अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष-40, अंक-22, 1-15 जुलाई, 2017

4 जुलाई : विवेकानन्द-पुण्यतिथि
विनम्र श्रद्धांजलि

- **समन्वय व शांति, न कि मतभेद और कलह**
  शिकागो, 15 सितंबर 1893 *स्वामी विवेकानन्द*
- **अहिंसा की शक्ति**
  महात्मा गांधी
- **धर्मग्रंथ की उपयुक्तता**
  किशोरलाल घ. मशरूवाला
- **बहुसंख्यक समाज की जिम्मेदारी**
  आचार्य राममूर्ति
- **क्रांति के दो दर्शन**
  एन. रामस्वामी
- **धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद**
  किशन पटनायक

''भाइयो, ऐसा संकीर्ण भाव ही हमारे कलह का कारण है। मैं हिन्दू हूं। मैं अपने छोटे-से कुएं में बैठा यही समझता हूं कि मेरा कुआं ही संपूर्ण संसार है। ईसाई लोग भी अपने क्षुद्र कुएं में बैठे हुए यही समझते हैं कि सारा संसार उसी कुएं में है और मुसलमान भी अपने तुच्छ कुएं में बैठे हुए उसी को सारा ब्रह्माण्ड मानते हैं। मैं आप सब अमेरिका वालों को धन्य कहता हूं, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे-छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान प्रयत्न कर रहे हैं। मैं आशा करता हूं कि भविष्य में परमात्मा आपके इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।''

–स्वामी विवेकानन्द

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष : 40, अंक : 22, 1-15 जुलाई, 2017

प्रधान संपादक
बिमल कुमार
मो. : 9235772595
संपादक
अशोक मोती
मो. : 9430517733

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह भवानी शंकर 'कुसुम'

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

मूल्य	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC No. UBIN-0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. आधुनिकतावाद का वैचारिक... 2
2. अहिंसा की शक्ति... 3
3. समन्वय व शांति, न कि मतभेद और... 4
4. धर्मग्रंथ की उपयुक्तता... 6
5. आज का धर्म... 7
6. बहुसंख्यक समाज की जिम्मेदारी... 9
7. क्रांति के दो दर्शन... 10
8. धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक... 11
9. कछुआ और खरगोश... 16
10. कविताएं... 20

संपादकीय

आधुनिकता का वैचारिक आधार

गांधीजी ने तथाकथित आधुनिक सभ्यता को अस्वीकार किया था। उसकी भौतिक उपलब्धियों पर प्रश्नचिह्न लगाया था। आधुनिकतावाद के वैचारिक आधार को समझना आज और भी जरूरी है, क्योंकि छद्म धर्म एवं पूंजीवादी विकास दोनों इससे ही उपजे हैं।

परम्परागत चिन्तन में व्यक्ति में आंतरिक जगत की चेतना तथा बाह्य जगत के बारे में चेतना के बीच एक निरंतरता, एक-सूत्रता होती थी। योरोप में जिस आधुनिक युग का उदय हुआ, उसका वैचारिक आधार यह था कि आंतरिक जगत की चेतना एवं बाह्य जगत की चेतना के बीच का अंतःसंबंध टूट गया। यह विचार स्थापित हुआ कि आंतरिक जगत एवं आध्यात्मिक जगत को जो ज्ञान या प्रकाश मिलता है, वह व्यक्ति का नितांत निजी अनुभव है। इस अनुभव का बाह्य जगत (या स्थूल जगत) में जो कुछ घटित हो रहा है, उससे कोई संबंध नहीं है।

आंतरिक जगत की चेतना तथा बाह्य जगत की चेतना की निरंतरता को मानने का अर्थ यह था कि सत्य एवं उससे जुड़ने की विधि एक व्यापक एकता (unity) का हिस्सा थी। इस व्यापक एकता के अंतर्गत अंतर-जगत तथा बाह्य-जगत की भी एकता थी। अर्थात मनुष्य का अंतर-जगत में जिस सत्य से साक्षात्कार होता था तथा बाह्य-जगत में जिस सत्य से साक्षात्कार होता था, उन दोनों सत्यों के बीच एक एकता थी तथा दोनों एक व्यापक सत्य के हिस्सा थे।

एक व्यापक सत्य के विभिन्न रूप व्यक्त होते हैं, जिनके बीच एक आंतरिक एकता का सूत्र होता है, इस विचार को अस्वीकार करने के फलस्वरूप, सत्य के स्वरूप व उसे जानने की विधि दोनों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण दूरगामी परिवर्तन आया।

एक बार यह स्थापित करने के बाद कि आंतरिक जगत एवं बाह्य जगत असंबंधित हैं; इसकी अगली स्वाभाविक निष्पत्ति यह हुई कि आंतरिक जगत एवं बाह्य जगत स्वायत्त एवं स्वतंत्र हैं और इसका अगला कदम यह था कि ब्रह्माण्ड एवं प्रकृति के अवयवों/हिस्सों को स्वतंत्र एवं स्वायत्त रूप से समझने की कोशिश करना। प्रत्येक इकाई को स्वतंत्र एवं स्वायत्त रूप से स्थापित कर, उन्हें अलग-अलग तरह से समझने की विधि तथा अलग-अलग तरह से उन पर नियंत्रण करने की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। इस प्रकार आंतरिक एवं बाह्य जगत को अलग-अलग स्वायत्त एवं स्वतंत्र तरह से देखने की दृष्टि की परिणति यह हुई कि एक के बाद एक हम खंडित सत्य की ओर बढ़ते गये।

आंतरिक चेतना व्यापक चेतना का एक अंश है। जब इसका व्यापक चेतना से विलगाव (Alienation) होता है, तो चेतना के स्तर पर भी बाह्य जगत में विभाजन खड़ा होता जाता है। इस आधुनिकता के प्रारंभिक दौर में योरोप ने, चेतना के स्तर पर अपने को बाहरी विश्व की चेतना से अलग स्वायत्त-स्वतंत्र रूप में स्थापित किया। और, योरोप के बाहर की दुनिया 'अन्य' (other) हो गयी। इस 'अन्य' की खोज करनी थी, इस 'अन्य' को जीतना था तथा इस 'अन्य' पर शासन करना था, अपने अधीन करना था।

उपनिवेशवाद की जड़ें, चेतना के इस खण्डित स्वरूप में अंतर्निहित थीं। 'अन्य' को सभ्य बनाने तथा विकसित करने का अभियान भी इसी खंडित चेतना का एक परिणाम था। भौतिक स्तर पर 'हम' और 'वे', आंतरिक चेतना के प्रकटीकरण तथा बाह्य (अन्य) के प्रति चेतना के प्रकटीकरण का माध्यम होते चले गये। हमारा 'घेरा' और बाहरी 'घेरा' सशक्त रूप लेते गये। हमारे घेरे या दायरे की दुनिया, उसके मूल्य व उसके तात्त्विक आधार भिन्न। जब हम अन्य घेरे या बाहरी दायरे के साथ संबंध रखेंगे, तो हमारे आंतरिक दायरे के मूल्य वहां लागू नहीं होंगे।

कालांतर में, जब आंतरिक चेतना जगत या आध्यात्मिक जगत का बाह्य जगत के 'सत्य-अन्वेषण' से संबंध टूट गया, तो नया विज्ञान, नयी तकनीक, नयी राजनीति तथा नयी अर्थ-व्यवस्था—इन सबका संबंध आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से टूट गया। विभाजन करो तथा नियंत्रण में करो—यह नयी सभ्यता का 'सत्य' भी बन गया तथा सत्य को जानने की पद्धति भी बन गयी। बाह्य विभिन्नताओं के बीच आंतरिक एकता की खोज, आधुनिकता के दायरे के बाहर हो गयी।

बिमल कुमार

अहिंसा की शक्ति

❑ **महात्मा गांधी**

''मैं एक सज्जन द्वारा लिखे गये गुजराती पत्र का अनुवाद दे रहा हूं :

हिन्दुस्तान को दुनिया के लोकमत की नगण्य सहायता मिली है, तिस पर भी गांधीजी उसे पूरी-पूरी सहायता क्यों कहते हैं? निःशस्त्र शक्ति द्वारा लड़ने वाले राष्ट्र की दशा एक स्त्री की-सी है। उसे शस्त्रधारियों ने जिस लाठी-प्रहार आदि द्वारा अनेक प्रकार से, अनेक जगहों में जागरूकतापूर्वक सताया है, यह देखकर दुनिया में जैसा पुण्य-प्रकोप प्रज्वलित होना चाहिए था, वैसा कहां हुआ है? इस प्रकोप के अभाव का अर्थ तो मानवता का अभाव है। यदि दुनिया आम तौर से मानवता के अभाव का परिचय दे, तो सत्य के शस्त्र की विजय कैसे होगी? यदि सत्य और अहिंसा की विजय होनी है, तो निःशस्त्र भारतीय जनता का खून बहते देख दुनिया का खून जैसा खौलना चाहिए, वैसा नहीं खौला है। गांधीजी इस बात को इसी रूप में क्यों नहीं देखते?''

दुनिया से पूरी-पूरी सहायता या समर्थन मिलने की बात मैंने कहीं भी कही हो, तो उसे अनजाने की गयी अतिशयोक्ति समझना चाहिए। यदि मैंने ऐसी कोई बात कही हो, तो वह मुझे बतायी जानी चाहिए। मुझे तो इसकी कोई याद ही नहीं पड़ती।

ब्रिटिश सैनिक सत्ता के विरुद्ध लड़ने वाले निःशस्त्र राष्ट्र की तुलना, किसी बदमाश के सामने खड़ी निस्सहाय स्त्री की दशा से, करके लेखक ने अहिंसा और स्त्री शक्ति की अवगणना की है। यदि पुरुष-वर्ग ने स्त्रियों को निःसत्त्व न कर डाला होता, अथवा स्त्री भोग में फंसकर पुरुष के अधीन न हुई होती, तो वह अपनी अनंत शक्ति संसार को दिखा सकती थी। गत युद्ध में उसने अपनी शक्ति की थोड़ी और अपूर्ण झांकी करायी है। जब वे भी पुरुषों के बराबर सेवा-कार्य के लिए अवकाश प्राप्त कर लेंगी, अपनी संघ-शक्ति बढ़ा लेंगी, तब इस देश को और जगत को उनकी अद्‌भुत शक्ति के दर्शन होंगे।

जिसके हाथ में **अहिंसा-रूपी शस्त्र है, वह निःशस्त्र है; यह कहना भी ठीक नहीं। स्पष्टतः लेखक अहिंसा के सही उपयोग को नहीं जानता और न उसने उसकी असीम शक्ति को ही पहचाना है। यदि उसने उसका प्रयोग किया भी है तो यंत्रवत किया है। किसी और अच्छे साधन के अभाव में, उसने काम-भर चलाया है। यदि उसका मन अहिंसा की भावना से ओत-प्रोत होता तो वह निश्चय ही जान लेता कि हिंस्र पशु तक को वशीभूत किया जा सकता है; हिंस्र मनुष्य को तो निश्चय ही।**

इसलिए यदि **पिछले वर्ष के अत्याचारों से दुनिया का खून नहीं खौल उठा तो इसका कारण दुनिया का अन्यायी या हृदयहीन होना नहीं है; बल्कि उसका कारण यह है कि हमारी अहिंसा व्यापक और हमारे उद्देश्य के लिए अच्छी भले ही थी, तो भी वह शक्तिशाली और कुशल लोगों की अहिंसा नहीं थी। वह जीवंत विश्वास से प्रेरित न होकर सिर्फ एक नीति थी, हाथ भले नहीं उठाया; किन्तु हमने मन में क्रोध तो किया। हमारी भाषा और उससे भी बढ़कर हमारे विचार हिंसा से मुक्त नहीं थे। सामान्यतः हम हिंसापूर्ण कार्यों से दूर रहे; क्योंकि हम अनुशासनबद्ध थे।** संसार ने अहिंसा के सीमित प्रदर्शन से भी चकित होकर, बिना किसी प्रचार के, हमारी पात्रता के अनुपात में समर्थन और सहानुभूति दी। इसके बाद जो बचा रहता है उस पर त्रैराशिक का हिसाब लागू करके देख लेना चाहिए। जब हाल के संघर्ष में, अहिंसा के सीमित और यंत्रवत उपयोग से हमें इतना समर्थन प्राप्त हुआ है, तब यदि हमने अहिंसा का पूर्ण पालन किया होता तो हमें और कितना समर्थन प्राप्त हो सकता था? ऐसा हो तो जरूर दुनिया का खून खौल उठे। मुझे मालूम है कि अभी यह पुनीत दिन बहुत दूर है। हमें कानपुर, बनारस और मिर्जापुर में, अपनी दुर्बलता का आभास हुआ। जब हम अहिंसा से ओत-प्रोत हो जायेंगे तब हम सिर्फ अधिकारी-वर्ग से होने वाले संघर्ष में ही अहिंसा का पालन नहीं करेंगे, बल्कि अपने आपसी झगड़ों में भी करेंगे। **जब हमें अहिंसा की शक्ति में जीवंत श्रद्धा होगी तो वह दिन-प्रतिदिन फैलती चली जायेगी और एक दिन सारे संसार में, उसकी ऐसी व्याप्ति हो जायेगी कि संसार ने ऐसी जबर्दस्त व्याप्ति कभी न देखी होगी। मैं तो इसी विश्वास में जी रहा हूं कि हम अहिंसा के इस महान प्रयोग में सफल होकर रहेंगे।**

(अंग्रेजी से)

यंग इंडिया, 7-5-1931

4 जुलाई : विवेकानन्द-पुण्यतिथि श्रद्धांजलि

सर्वधर्म परिषद का संदेश है–

समन्वय व शांति, न कि मतभेद और कलह

❑ स्वामी विवेकानन्द

सन् 1893 ई. में विश्व-प्रदर्शनी के उपलक्ष में शिकागो में जो धर्मसभा हुई थी, वही-धर्म परिषद् थी।

साहस एवं मौलिकता से प्रेरित शिकागो निवासियों के मन में यह विचार आया कि संसार के प्रमुख धर्मों का सम्मेलन ही अन्य सभी परिषदों में उच्चतम एवं श्रेष्ठ होगा।

हिन्दू धर्म के वास्तव में स्वामी विवेकानन्द ही एकमात्र प्रतिनिधि थे। विश्व को समग्र हिन्दुओं के भावों का दिग्दर्शन कराने वाले भी वे ही थे और सबसे पहले उसी दिन उनके द्वारा हिन्दू धर्म को एकसूत्रता तथा स्पष्टता प्राप्त हुई।

अस्तु, शिकागो धर्मसभा में स्वामी वि वेकानन्द द्वारा उनके स्वागत के उत्तर म ें उनका अभिवादन संबोधन (11 सितंबर, 1893) तथा अंतिम 27 सितंबर 1893 को दिये गये विदाई संबोधन यहां विवेकानंद पुण्य-तिथि (4 जुलाई) के अवसर पर प्रस्तुत है, जो विभिन्न धर्मों में समन्वय व सहयोग स्थापित करने की दिशा में मील के पत्थर हैं। **–सं.**

प्रथम दिवस : 11 सितंबर, 1893

सभापति कार्डिनल गिबन्स के चारों ओर पूर्वदेशीय प्रतिनिधियों का समूह इकट्ठा था। इन प्रतिनिधियों के नाना प्रकार के रंगीन वस्त्र अपनी-अपनी भड़क दिखला रहे थे। ब्राह्म, बौद्ध और इस्लाम मतानुयायियों के बीच में भड़कीले गेरुए रंग का काषाय वस्त्र धारण किये हुए भारत के सुवक्ता संन्यासी स्वामी विवेकानन्द विराजमान थे और उनके गौर-वर्ण चेहरे पर पीत-वर्ण का साफा शोभायमान था।

सभा के कुछ कार्यक्रम के पश्चात् भारत के स्वामी विवेकानन्द सभा में उपस्थित किये गये। और जब आरंभ में ही स्वामीजी ने श्रोतागणों को *''अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण''* कहकर संबोधित किया, तो हर्ष और उत्साह की ऐसी महाध्वनि गूंज उठी कि वह कई मिनट तक होती रही। इसके बाद उन्होंने अपना व्याख्यान इस प्रकार आरम्भ किया :

अभिवादन के उत्तर में

अमेरिकानिवासी भगिनी तथा भ्रातृगण! : जिस सौहार्दता और स्नेह के साथ आपने हम लोगों का स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है। संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूं तथा सब धर्मों की मातास्वरूप हिन्दुधर्म एवं भिन्न-भिन्न समुदाय के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद प्रकट करता हूं।

मैं उन सज्जनों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने इस सभामंच पर से प्राच्य-प्रतिनिधियों के संबंध में आपको यह बतलाया है कि ये दूर देश वाले पुरुष सर्वत्र सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के निमित्त यश और गौरव के अधिकारी हो सकते हैं। मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को मान्यता प्रदान' करने की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। मुझे

आपसे यह निवेदन करते गर्व होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूं, जिसकी पवित्र भाषा संस्कृत में अंग्रेजी शब्द 'exclusion' का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं! मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बतलाते गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मंदिर रोमन-जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। भाईयों,

मैं आप लोगों को एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूं, जिसे मैं अपने बचपन से गाता रहा हूं और जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

–शिवमहिम्न स्तोत्र

—''जैसे विभिन्न नदियां भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अंत में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।''

यह सभा, जो संसार की अब तक की सर्वश्रेष्ठ सभाओं में से एक है, जगत् के लिए गीता के उस अद्भुत उपदेश की घोषणा एवं विज्ञापन है, तो हमें बतलाता है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

–गीता, 4/11

—''जो कोई मेरी ओर आता है—चाहे किसी प्रकार से हो—मैं उसको प्राप्त होता हूं। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।''

साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्म-विषयक उन्मत्तता इस सुंदर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गयी, इन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय आ गया है, और मैं पूर्ण आशा करता हूं कि जो घंटे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये गये हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जाने वाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्यु-नाद ही सिद्ध होंगे।

विदाई

17वां दिवस (अंतिम दिन) : 27 सितंबर, 1893 : संसार में सब धर्मों के सम्मेलन की संभवपरता आज पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध हो गयी है। परमेश्वर ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया है तथा उनके निःस्वार्थ प्रयत्न को सफलतारूपी शुभ फल द्वारा विभूषित किया है।

उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद है, जिनके विशाल हृदय तथा सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत कल्पना का स्वप्न देखा और फिर उसे कार्य में परिणत कर दिया। उन उदार भावों को मेरा धन्यवाद, जिनकी इस सभामंच पर वर्षा हुई है। इस विद्वान् श्रोतृमंडली को भी मेरा धन्यवाद, जिसने मुझ पर समान रूप से कृपा की है और ऐसे प्रत्येक भाव को आदरपूर्वक स्वीकार किया है, जो मत-मतांतरों के आपसी घर्षणों को हलका करने का प्रयत्न करता है। इस समरसता की मंजुल ध्वनि में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच-बीच में सुने गये हैं। उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद, क्योंकि उन्होंने अपने स्वर-वैचित्र्य से इस समरसता को और भी मधुर बना दिया है।

धर्म-समन्वय की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत-कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं इस संबंध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूंगा। पर यह कह दूं कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह समन्वय किसी एक धर्म की विजय और बाकी सब धर्मों के विनाश से साधित होगा, तो उनसे मेरा कहना है कि ''भाई! तुम्हारी यह आशा असंभव है।'' क्या मैं यह चाहता हूं कि ईसाई लोग हिन्दू हो जायें?–कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करें! क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जायें? ईश्वर इस इच्छा से बचावे! बीच भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु तथा जल उनके चारों ओर रख दिये गये। तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपने नियम से ही बढ़ता है–वायु, जल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनसे अपने अंग-प्रत्यंग की पुष्टि करता हुआ एक बड़ा वृक्ष हो जाता है।

ऐसा ही धर्म के संबंध में भी है। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हां, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस सर्वधर्म परिषद ने जगत के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है—उसने यह सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।

अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायेंगे और केवल उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अंतस्तल से दया करता हूं और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूं कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस–जैसे लोगों के अड़ंगों के बावजूद भी प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा–*''सहयोग न कि विरोध''*, *''पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश''*; *''समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह''*! ❑

धर्मग्रंथ की उपयुक्तता

❑ किशोरलाल घ. मशरूवाला

आदमी धर्मग्रंथ अकसर धर्म समझने के लिए नहीं खोजता, बल्कि अपने विचार के मुताबिक काम करने के लिए शास्त्र का आधार खोजता है।

''उचित कर्म क्या और अनुचित कर्म क्या इसका निर्णय करने में ज्ञानियों की बुद्धि भी चक्कर में पड़ जाती है, इसलिए मैं तुझे उचित कर्म बताता हूं, जिससे तू अशुभ से बचेगा''—ऐसी प्रतिज्ञा गीताकार ने की। परंतु जब सारी गीता का जीवन भर पठन और मनन करने पर भी ज्ञानियों की बुद्धि तक जैसी की वैसी ही चक्कर में पड़ी हुई पायी जाती है, तब गीता की दुहाई देकर किसी सिद्धांत का समर्थन करने में खतरा मालूम होता है।

उसी गीता के आधार पर गांधीजी सत्यमय जीवन और सर्वोदय के सिद्धांत निश्चित करते रहे, और कहा जाता है कि उसी की दुहाई देकर उनके खूनी ने उनपर गोलियां चलायीं।

यह विचार सिर्फ नाथूराम गोडसे का है, ऐसी बात नहीं। संस्कृत और तत्त्वज्ञान के बड़े-बड़े आचार्य भी गंभीरता पूर्वक कहते हैं कि गीता का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना ही था। गीता को अहिंसा का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ नहीं माना जा सकता। *''मामनुस्मर युद्ध्य च''* (मेरा स्मरण कर और लड़ाई कर) ऐसी आज्ञा 'भगवान' देते हैं, और *''करिष्ये वचनं तव''* (मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा) ऐसी अंत में अर्जुन 'भगवान' से प्रतिज्ञा करता है। गीता का तात्पर्य निकालने के लिए इससे अधिक प्रमाण क्या चाहिए? हजार गांधी और विनोबा गीता के नाम से हिंसा का निषेध करें, तो भी वह कैसे मान्य किया जा सकता है?

इस तरह परस्पर विरोधी अर्थ निकालने का प्रसंग केवल गीता पर ही नहीं है। बाइबिल, कुरान और दूसरे सब धर्मों के ग्रंथों से ऐसे एक दूसरे से उलटे अर्थ निकाले जाते हैं, और जो ग्रंथ मनुष्यों को धर्म और अधर्म में विवेक सिखाने वाले शास्त्र माने गये हैं, वे ही विद्वानों के हाथ पड़कर उन्हें ज्यादा उलझन में डालने वाले बन गये हैं।

असल बात यह है कि अक्सर मनुष्य क्या करने या पाने की इच्छा रखता है, इसका निर्णय वह पहले ही अपने आप कर लेता है, और फिर उसका नैतिक समर्थन करने के लिए धर्म और नीति में श्रेष्ठ माने हुए लोगों के वचनों को खोजता है। अगर उनमें से थोड़ा भी अनुकूल आधार मिल जाय तो उसे पकड़ लेता है, और उसकी दुहाई दे देता है।

गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में इसका एक बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। बचपन में उन्हें एक नाटक देखने जाने की इच्छा हुई। पिताजी से आज्ञा मांगी। पिताजी ने अनुमति न दी। इन्होंने हठ पकड़ी और दो-चार बार मिन्नत करते रहे। आखिर पिताजी ने गुस्से में आकर कहा, ''जाओ, टलो!'' हो गया, आज्ञा मिल गयी! किस भाव से 'जाओ' कहा, उसे देखने की क्या जरूरत? 'जाओ' कहा इतना पिताजी का आज्ञाधारक होने के लिए बस था!

1942 के आंदोलन में सब नेता गिरफ्तार किये जाने पर 'तोड़-फोड़' का कार्यक्रम शुरू हुआ। वह करना है ऐसा तो उसके प्रचारकों ने पहले से ही मन में पक्का कर रखा था, परंतु उसमें ज्यादा जान डालने के लिए और अधिक लोकमान्यता प्राप्त करने के लिए किसी अहिंसावादी का आधार ले लेना अच्छा था। मशरूवाला ने कह दिया कि ''अमुक अमुक शर्तों के साथ तार काटना और रेल की पटरी उखाड़ना अहिंसापूर्वक किया जा सकता है!'' बस! काम हो गया! शर्तों की बात तो अति सयाने लोग कहते ही रहते हैं! उनका कोई महत्त्व नहीं! महत्त्व की बात यह काम किया जा सकता है, इतनी ही मानी गयी। लाखों परचे इस राय के बांटे गये, और मशरूवाला की 'गीता' के आधार पर यह कार्यक्रम चल पड़ा!

तात्पर्य यह कि आदमी धर्मग्रंथ अकसर धर्म समझने के लिए नहीं खोजता, बल्कि अपने विचार के मुताबिक काम करने के लिए शास्त्र का आधार खोजता है।

अगर उसे अहिंसा से नफरत है, और हिंसा को वह जायज ठहराना चाहता है, तो गीता ही क्या, बुद्ध, महावीर और गांधी के वचनों के बल पर भी वह हिंसा का समर्थन करता है। अगर उसकी पहले से ही अहिंसा में रुचि जम गयी है, और हिंसा के लिए घृणा पैदा हुई है, तो वह अहिंसा के अनुकूल प्रमाण आइसेनहावर, लिन्डबर्ग, हिटलर आदि युद्ध नेताओं के शब्दों में भी पा सकता है।

असल चीज हमारी अपनी स्वाभाविक श्रद्धा, संस्कार, मनोरचना और वृत्तियां हैं; न कि शास्त्र। हर एक शास्त्र में से हम अपने खयालों के अनुकूल अर्थ निकाल सकते हैं। योग्य भावना और गुणों के पोषण के बिना धर्माधर्म ठहराने के लिए शास्त्र निकम्मे हैं, खतरनाक भी।

गीता के सोलहवें अध्याय के अंत में अर्जुन से कहा गया है—''शास्त्र को प्रमाण समझ कर तुम कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करो।'' परंतु यह अधूरी बात है। शास्त्र→

आज का धर्म

❑ केदारनाथ

बुद्धि का विनियोग तो मानवजाति की उन्नति के लिए किया जाना चाहिए। लेकिन हमारा जीवन, हमारी कार्य-प्रणाली आज एक नाटक की तरह हो गयी है। इस तरह दुनिया को भले ही हम धोखा दे सकें, आत्मा को नहीं दे सकेंगे।

सही धर्म : *हमारा जीवन कैसा हो, जिससे कि हमारी अपनी, मानव समाज की और धर्म की उन्नति हो सके? हमें इस बात पर सोचना चाहिए। अपने तईं और इससे आगे बढ़कर सोचें तो समाज के तईं भी हम अपना धर्म बहुत-सा जानते ही नहीं और अपेक्षा रखते हैं, परलोक का धर्म जानने की—मृत्यु के बाद वाले देवलोक के धर्म की। उसकी जिज्ञासा का विकास करते हैं, परंतु परलोक की कल्पना करने से अगर धर्म समझा जा सकता हो तो मैं उसे धर्म नहीं कहूंगा। धर्म की जरूरत हमारे जीवन में, व्यवहार में, हर काम में है। सही धर्म उसे ही कह सकते हैं, जिसके आचरण के परिणाम का दर्शन हम यहां कर सकें, अब कर सकें, जिसके कारण हमारा कल्याण हो सके, हमारी उन्नति हो सके।*

जिसे हम काल्पनिक-धर्म समझते आये हैं, मेरे मन में उसका कोई महत्त्व नहीं है।

व्रतों की जरूरत : मानव जाति का इतिहास देखिये, वंश परम्परा से चलते आये संस्कारों पर दृष्टिपात कीजिये, उनके मूलभूत सिद्धांतों का परिक्षण कीजिये, आप देखेंगे कि उनमें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह तथा अस्तेय पर विशेष जोर दिया गया है। यह नहीं समझना चाहिए कि उस जमाने में उनकी जरूरत थी और आज नहीं है। आज भी इन व्रतों को समझ कर उनपर आचरण करने की जरूरत है। उससे हमारी उन्नति होने वाली है। भाई-भाई के बीच आज जो वैरभाव और आपसी दुश्मनी फैली हुई है, वह दूर होने वाली है। ऐसा वैरभाव, ऐसी हीन वृत्ति तो पशु-पक्षियों में भी नहीं पायी जाती, जबकि उच्च श्रेणी के और सुसंस्कृत समझे जाने वाले हम लोग एक-दूसरे को अविश्वास की नजर से ही देखते हैं।

प्रतिज्ञा के लिए नाराजगी : आज काला-बाजार और रिश्वतखोरी की बुराई जगह-जगह दिखायी दे रही है। एक जमाना था, जब आपस में चीजों का लेन-देन बड़े हेत-प्यार के साथ हुआ करता था। अकाल के जमाने में निराधार लोगों के लिए सदाबरत खोलने में धनवान अपनी दौलत न्यौछावर कर देते थे। आज पूंजीपति समाज तो गरीबों को चूसने का काम कर रहे हैं। काला-बाजार और रिश्वत-खोरी अंधाधुंध फैल गयी है। कुछ दिन हुए काला-बाजार और रिश्वतखोरी को नाबूद करने का एक प्रयत्न मैंने किया था। मैंने ऐसी योजना बनायी कि ''आइंदा मुझसे अनीति का कोई काम नहीं होगा'' ऐसी लिखित प्रतिज्ञा सब लोग करें। इस फार्म पर दस्तखत करवाने के लिए जब मैं समाज के आगेवान पूंजीपतियों के पास जाता तो वे लोग उस पर दस्तखत करने के लिए राजी न होते। जाहिर है कि वे इस बुराई को नाबूद नहीं करना चाहते।

सत्य का शोधन : धार्मिक स्थानों पर जाकर लोग धर्म के बारे में बहुत कुछ श्रवण करते रहते हैं। लेकिन आचरण में कुछ नहीं लाते। इससे आज की परिस्थिति उत्पन्न हुई है। इससे हमारा अधःपतन हुआ है। अविश्वास की निगाह से देखने की वृत्ति पैदा हुई है। मैं चाहता हूं कि हम लोग सत्य को शोधें—उसकी राह अनुसरें, असत्य को दफनाकर सत्यमय संसार का सर्जन करें, मानव-जीवन को पवित्र करें, शुद्ध करें। उसमें जो सड़न पैदा हो गयी है, जो अनिष्ट घुस गया है, उसे दूर करें और ऐसा करने वालों का पूरा साथ दें।

सुखदायक व्यवहार-धर्म : एक बात मुझे बहुत खटकती है। आजकल सभी राजपुरुष प्रजा के हित के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाते हैं, लेकिन केवल योजनाओं से प्रजा का हित नहीं होता। जब तक देश के कोने-कोने में अन्न-बिना भूखे-तड़पते रहेंगे, वस्त्र बिना नंगे भटकते रहेंगे, दवाई बिना

→का प्रमाण कौन? कैसे ले? उसका अर्थ किस तरह बिठाये? एक विद्वान के अर्थ का दूसरा उतना ही मोटा (जबरदस्त) विद्वान खंडन कर देता है।

तब शास्त्र से ज्यादा महत्त्व की बात है, शास्त्र के पढ़ने वाले की श्रद्धा, रुचि, गुण, संस्कार वगैरह। जिस तरह बीज भूमि और खाद से स्वतंत्र और ज्यादा असल वस्तु है, जिस तरह बीज भूमि और खाद से अपनी प्रकृति के अनुकूल तत्त्व खींचते हैं, और परिवर्तित करते हैं उसी तरह शास्त्र-विधि या शास्त्र-प्रमाण से ज्यादा असल चीज है शास्त्र का अर्थ करने वाला।

शास्त्र विधि को छोड़कर काम करने वाले दो तरह के होते हैं, *''यो वर्तते कामकारतः''* (अपने रागद्वेषादि से चलने वाला), और *''यो यजते श्रद्धयान्वितः''* (श्रद्धा से चलने वाला)। रागद्वेष से चलने वाले शास्त्र का प्रमाण बतावें तो भी मिथ्या है, न बतावें तो अच्छा ही है। परंतु जो श्रद्धामय है, और सात्त्विक श्रद्धायुक्त है, वह शास्त्रविधि को छोड़कर चले तो भी सलामत हो सकता है, शास्त्रविधि से वह कुशल कर्ता होता है। हमें शास्त्रों की अपेक्षा सुसंस्कार, सद्‌गुण, सद्‌भावना पर ज्यादा जोर देना चाहिए। उसके बाद शास्त्र की उपयुक्तता सोची जा सकती है। (*वर्धा, 22-7-1947*)

बीमार तिलमिलाते रहेंगे, तब तक ऐसी योजनाएं हमारा कोई भला नहीं कर सकेंगी। गरीब लोग अपने दिन कैसे काटते हैं? हम कहते हैं कि वे काम नहीं करना चाहते। वे आलसी की तरह बैठे रहना चाहते हैं। लेकिन सही देखा जाय तो उनकी शक्ति का, काम करने की उनकी ताकत का, गरीबी द्वारा अपहरण हो चुका है। जब तक पेट पालने के लिए पूरा अन्न नहीं मिलता, जीवन में संतोष हो नहीं सकता। बच्चों के लिए दूध तक की सुविधा नहीं है, तब किस किसम के धर्म की बात हम करते हैं? इन सब बातों को छोड़ना होगा। काम करने की ताकत पैदा करनी होगी। हमारे कंगाल भाई-बहनों की हालत सुधारने की पूरी कोशिश करनी होगी। यही है व्यवहार-धर्म। और यही अति सुखदायक है। धर्म और व्यवहार भिन्न नहीं है। जब दोनों को एक साथ समझने की कोशिश करेंगे, तभी उन्नति होगी।

कानून की आवश्यकता ही क्यों? : हमारे लोगों का कुछ ऐसा खयाल हो गया है कि महाव्रतों का पालन वही करे, जिसने संन्यास ग्रहण किया है। लेकिन मेरा अपना खयाल तो यह है कि व्रतों की ज्यादा जरूरत गृहस्थियों के लिए है। इन्सान यदि सत्याचरण करे, 'प्राणी जाई बरु, वचन न जाई', की टेक का पालन करे, तो आज कानून और कोर्ट-कचहरी की जो आवश्यकता बढ़ गयी है, और जिसका हम वृथा गौरव किये जा रहे हैं, उसकी जरूरत ही न पड़े! वास्तव में, लज्जाजनक बात तो यह है कि हमारी मनोदशा ही बदल गयी है। कानून-कायदे तो उनके लिए होते हैं, जो मानव-धर्म से विपरीत राहत चलते हैं। कानून भले सुंदर हो और उनपर अमल कराने वाले भले ही पंडित हों, उसकी आवश्यकता ही क्या होगी—अगर इन्सान धर्म की राह चले, सच बोले, नित अहिंसा का पालन करे?

अस्तेय और अपरिग्रह : पैसा कमाने वाले अक्सर चोरी ही करते रहते हैं। अनीति की कमाई भी एक तरह की चोरी ही है। मेहनत-मजदूरी करते हुए भी अगर अपेक्षा अधिक कमाने की है तो वह भी चोरी है। जिनमें धार्मिक वृत्ति होगी, उनके जीवन में परिग्रह को स्थान नहीं रहेगा। उनकी आवश्यकताओं की मर्यादा होगी। अस्तेय और अपरिग्रह उन्नति के मार्ग हैं। ज्यादा पैसे मिलाने का लोभ नहीं रखना चाहिए। उसमें व्यक्ति द्रोह है, व्यक्ति द्रोह पाप है। व्यवहार में सत्यनिष्ठा के शिक्षण और आचरण की जरूरत है।

ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य-पालन भी मानव धर्म का एक अंग है। हम दलील करते हैं कि प्रजा-निर्माण करने में हम कुदरत के अधीन हैं, लेकिन पशु-पक्षी तो तब तक ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, जब तक उनकी संतान खुद के पैरों पर खड़ी नहीं हो जाती। इसी तरह जब तक हमारे बालक सयाने नहीं होते, ब्रह्मचर्य-पालन को हमें धर्म समझना चाहिए। हमारे बालकों को मनुष्य बनाना हमारा कर्तव्य है। उनको अच्छे संस्कार देना माता-पिता का धर्म है। अब्रह्मचर्य पालकर हम धर्म का परलोक की बातें करें, वह व्यर्थ है।

पैसा कमाने की लत : पंच-महाव्रतों की योजना संन्यासी के लिए नहीं, गृहस्थाश्रमी के लिए की गयी है। उन पर अमल कीजियेगा तो सुखी होइएगा। हरेक के प्रति सद्भाव रखिये, हरेक के साथ सद्वर्तन कीजिए। सच्चा मानवधर्म यही है। आज इसकी जरूरत है। द्रव्यलोक की वृत्ति पाप है। हम लोगों को पैसा कमाने की लत पड़ गयी है। इसी वजह से काले बाजार की कमाई अच्छी लगती है। लेकिन इस तरह का धन मिलाने वाले सुखी नहीं होते। वास्तव में सुख धन से मिलता ही नहीं। धर्ममय-जीवन बिताने वाले ही सच्चा सुख प्राप्त कर सकते हैं।

बुद्धि का विनियोग : अनीति का काम न करने की हमें प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। भूल होने पर प्रायश्चित करना चाहिए। यही आज का युग-धर्म है। लेकिन जो अपने को बुद्धिमान समझते हैं वे यह इतना-सा विचार भी आचरण में नहीं ला तक रहे हैं। बुद्धि का विनियोग तो मानवजाति की उन्नति के लिए किया जाना चाहिए। लेकिन हमारा जीवन, हमारी कार्य-प्रणाली आज एक नाटक की तरह हो गयी है। इस तरह दुनिया को भले ही हम धोखा दे सकें, आत्मा को नहीं दे सकेंगे।

धर्ममय जीवन : सारांश, जरूरत इस बात की है कि सच्चे धर्म का विचार करें, सच्ची राह चलें, जीवन को विमल बनायें, परिशुद्ध करें, स्वावलंबी करें। दूसरों की मेहनत पर जीने का व्यर्थ आभास त्याग दें। वस्त्र के बारे में भी स्वावलंबी बनें, कपड़ा खुद तैयार करें। जीवन धर्ममय बनायें—फैशनमय नहीं।

भगवान से प्रार्थना है कि वह सबको सच्चा धर्म समझने की सद्बुद्धि प्रदान करे। ❑

श्री सियाराम साहू छत्तीसगढ़ सर्वोदय मंडल के अध्यक्ष निर्वाचित

श्री सियाराम साहू संस्कृत विषय से स्नातकोत्तर हैं। जब वे शिक्षक थे उसी समय से सामाजिक कार्यों में गहरी रुचि लेते थे। इसी रुचि के कारण आप वर्ष 1998 से सर्वोदय आंदोलन से जुड़े। आपके नेतृत्व में छत्तीसगढ़ प्रदेश सर्वोदय मंडल नशाबंदी, वृक्षारोपण, गो-रक्षा एवं आध्यात्मिक उन्नयन आदि कार्य कर रहा है।

छत्तीसगढ़ के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों एवं कार्यकर्ताओं से आपका गहरा संबंध है। आपके नेतृत्व में छत्तीसगढ़ सर्वोदय मंडल हमेशा सक्रिय रहता है।

प्रदेश सर्वोदय मंडल की 14 मई, 2017 की बैठक में आपको दूसरी बार अध्यक्ष की जिम्मेवारी दी गयी। **–स.ज. प्रतिनिधि**

बहुसंख्यक समाज की जिम्मेदारी

❑ आचार्य राममूर्ति

हिन्दू इस देश का बहुसंख्यक समुदाय है। वह सोचता है कि सम्प्रदायवाद केवल अल्पसंख्यकों का, विशेष रूप से मुसलमानों का और अब सिखों का भी, रोग है। खुद अपने को वह उदार राष्ट्रवादी मानता है। इसलिए इस रोग से अपने को मुक्त भी मानता है। हिन्दू भी सम्प्रदायवादी हो सकता है, यह बात उसके गले के नीचे नहीं उतरती। हिन्दुओं का इस तरह का दिमाग बहुत-कुछ आजादी की लड़ाई के जमाने में बना था जब मुस्लिम लीग के नेतृत्व में बहुत बड़ी संख्या में मुसलमानों ने कांग्रेस द्वारा चलाये जा रहे राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ अंग्रेजों से अपना गठबंधन जोड़ लिया था। तब हिन्दुओं और पठानों को साथ लेकर कांग्रेस को आजादी के लिए अंग्रेजों से अकेले लड़ना पड़ा। अगर मुसलमानों ने साथ दिया होता, जैसा कि उत्तर-पश्चिम के पठानों ने दिया, तो आजादी शायद बहुत पहले मिल गयी होती और देश का बंटवारा भी न हुआ होता। इसलिए अगर आज तक हिन्दुओं के मन में अविश्वास की पुरानी गांठ बनी हुई है तो उसके उचित ऐतिहासिक कारण हैं। लेकिन हिन्दू यह भूल जाता है कि बंटवारे के साथ आजादी स्वीकार करने में कांग्रेस ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद के पक्ष में अंग्रेजों के साथ समझौता किया और गांधीजी को छोड़ दिया। गांधीजी को छोड़ने का अर्थ यह था कि उस वक्तदेश में जो सबसे बड़ी 'सेकुलर' और नैतिक शक्ति थी उसे छोड़ दिया। गांधी को छोड़कर आजादी का सौदा करना और आजादी के बाद माइनारिटी के नाम में मुसलमानों को मिलाकर सत्ता में बने रहने की कोशिश करना, कांग्रेस के ये दोनों काम ऐसे हैं जो राष्ट्रीय दृष्टि से घातक सिद्ध हुए हैं।

आजादी के बाद देश के लिए जो राजनीति अपनायी गयी उसका आधार संख्या थी। उसके अनुसार सत्ता का अधिकारी वह दल माना गया, जिसकी 'मेजारिटी' हो। मेजारिटी-माइनारिटी की राजनीति ने देश को टुकड़ों में तोड़ दिया। स्वयं हिन्दू समाज टूट गया। लेकिन मुसलमान, सिख, ईसाई जैसे अल्पसंख्यक संगठित हो गये। ऐसा होना स्वाभाविक था। जिस राजनीति में संख्या सत्ता या अन्य सरकारी सुविधा का आधार है, उसमें अल्पसंख्यकों के मन में यह भय पैदा होता है कि बहुसंख्यक उन्हें दबायेंगे। यह भय मुसलमानों के मन में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भ से था। वे सोचते थे कि दिल्ली पर हमेशा हिन्दुओं का ही राज रहेगा और वे मुसलमानों से बदला लेंगे। यह भय आज भी मुसलमानों और सिखों के मन में है। यह भय केवल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भी है। स्वयं हिन्दुओं में सवर्ण-अवर्ण-बैकवर्ड तो हर जगह इस भय में जी ही रहे हैं। ऐसी स्थिति में हर छोटे-बड़े समुदाय की चिन्ता रहती है कि किसी तरह उसकी संख्या बनी रहे, बढ़ती रहे और वे संगठित रहे। हमारी संख्या की राजनीति ने देश के हर समुदाय को दूसरे समुदाय का 'दुश्मन' बना दिया है। आपस की इस दुश्मनी पर राष्ट्रीयता कैसे टिकेगी? बात तो यहां तक पहुंच गयी है कि हिन्दू समझने लगे हैं कि संख्या में वे बड़े हैं, यह उनका गुनाह माना जा रहा है, जबकि मुसलमान, सिख, ईसाई और आदिवासी आदि मानते हैं कि उनकी संख्या कम है, इसकी उन्हें सजा भोगनी पड़ रही है। इन्हीं को मिलाकर देश है। जब इन्हीं का यह हाल है तो राष्ट्र किसको लेकर बनेगा और एकता का आधार क्या होगा?

राष्ट्र की इस स्थिति में संख्या में सबसे बड़े और परंपरा में सबसे पुराने होने के नाते हिन्दुओं की सबसे ज्यादा जिम्मेवारी है। वे देख लें कि सम्प्रदायवाद और जातिवाद में प्रकट होने वाली उनकी संकीर्णता उन्हें अंदर से तोड़ रही है, और अल्पसंख्यकों को बढ़ावा दे रही है कि अकेले-अकेले नहीं तो मिलकर वे मुकाबिले में खड़े हों। और, वे खड़े हो रहे हैं। वे चुनाव में अपनी संख्या का इस्तेमाल करने लगे हैं। क्या अलग-अलग एकताओं का जोड़ राष्ट्रीय एकता है? हिन्दू अपने आचरण से उन लोगों को मजबूत कर रहे हैं, जो यह कह रहे हैं कि भारत एक राष्ट्र नहीं, अनेक राष्ट्रों का देश है। हिन्दू न भूलें कि राजनैतिक अस्मिता के अलग होने के बाद अलग राष्ट्र की भावना तीव्र हो जाती है, और तब अलग राज्य की मांग दूर नहीं रह जाती। क्या पाकिस्तान, खालिस्तान, गोरखालैंड के बाद भी आंखें नहीं खुलेंगी?

अगर भारत की राष्ट्रीय अस्मिता कायम रखनी है तो संख्या की राजनीति के स्थान पर सहमति की राजनीति अपनानी पड़ेगी। इस राजनीति में धर्म के लिए स्थान नहीं हो सकता। दोनों का मेल असंभव है। इसमें बहुसंख्यक होने के नाते हिन्दुओं को अगुवाई करनी पड़ेगी। अगुवाई का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वे अल्पसंख्यकों की छोटी साम्प्रदायिकता का मुकाबिला अपनी बड़ी साम्प्रदायिकता से करने लग जायें। उन्हें यह मानकर चलना पड़ेगा कि हर भारतवासी उनका भाई है, और सबको मिलाकर ही भारत देश है, इसलिए इसमें सबके लिए समान और सम्मान का स्थान है। यदि ऐसी व्यवस्था बनाने में हिन्दू आगे रहेंगे, तो यह राष्ट्रीय एकता के आधार पर राष्ट्र के पुनर्निर्माण का पहला कदम होगा। ❑

क्रांति के दो दर्शन

❑ एन. रामस्वामी

नयी परिभाषा : डॉ. सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आजकल मास्को में हमारे राजदूत हैं। 9 सितंबर को अपने प्रमाण-पत्र पेश करते हुए उनने अपने भाषण में सन् सत्रह की रूसी-क्रांति तथा सन् सैंतालीस की भारतीय क्रांति की चर्चा की है। 29 सितंबर, 1949 के 'हिन्दू में उनके इस भाषण की रिपोर्ट आयी है। अपने इस भाषण में उनने क्रांति की एक अतिशय नयी और अप्रतिम परिभाषा की है—''इतिहास सदैव क्रमिक परिवर्तन के अनुसार ही नहीं चलता। कभी-कभी वह अपनी राह पर छलांगे मारता हुआ आगे बढ़ता है।''

संसार के इतिहास के ऐसे विषम अवसर पर कहे गये उनके ये अर्थ-गंभीर शब्द हमारे लिए विचारणीय हैं।

यह और वह : हमारे राजनैतिक नेता बहुधा यह कहते रहे हैं कि भारतीय क्रांति सन् 1942 में हुई। किन्तु एक अहिंसक क्रांति अपने उत्कर्ष-बिन्दु पर कब पहुंची, यह देखने के लिए सचमुच दार्शनिक की आंख चाहिए। और इस दार्शनिक के अनुसार यह राज्य-क्रांति अगस्त, सन् सैंतालीस में हुई, जब कि अंग्रेजों ने इस पूरे देश का शासन भारतीयों के हाथ में दे दिया। कहीं खून नहीं बहा, मनोमालिन्य नहीं हुआ, अतीत के दुःख का कांटा नहीं रह गया और न रही भविष्य में बदला लेने की भावना। इस अहिंसक-क्रांति ने निश्चयपूर्वक यह संभव कर दिया कि इन दोनों देशों के भावी-संबंध मधुर और मैत्रीपूर्ण रहेंगे। दुनिया के इतिहास में इस घटना की और कोई मिसाल नहीं। सन् सत्रह की रूसी-क्रांति भी एक बड़ी सफलता थी। लेकिन वह ऐतिहासिक ढंग से ही हुई। इतिहास की लीक से हटकर नवीन और अनैतिहासिक उपायों द्वारा आजादी हासिल करने का श्रेय तो भारत को ही दिया जा सकता है। अपने इस भाषण में श्री राधाकृष्णन मानों एक निगूढ़ संकेत करते हुए रूस और दुनिया का ध्यान हमारी इस क्रांति की ओर खींच रहे थे और कह रहे थे 'इस तस्वीर को देखिये और उस तस्वीर को।'

हनुमान की छलांग : यहां क्रांति की तुलना छलांग से की गयी है। इसमें इस विद्वान की दृष्टि की गहराई दिखती है। छलांग साधारण गति का ही एक तीव्रतर रूप है। यह आवश्यक नहीं है कि वह हिंसाश्रित हो। हनुमान सीता की खोज करने के लिए कूद कर समुद्र पार कर गये थे और लंका पहुंचे थे। वे भूमि पर पांव रख-रख कर नहीं गये, एकदम समुद्र का उल्लंघन कर गये। उनके पास नौका की रचना के लिए समय नहीं था। कर्तव्य के प्रति उनकी गहरी भक्ति ने उनमें ऐसी असाधारण शक्ति भर दी कि वे आसानी से अपना यह असंभव प्रयत्न सिद्ध कर सके। भारतीय-अहिंसक क्रांति की तुलना हनुमान के इस समुद्रोल्लंघन से कर सकते हैं।

अविराम क्रांति : यदि सन् 1947 की क्रांति के द्वारा हम देश की राजनीतिक आजादी हासिल करने में कामयाब हुए तो उसी उपाय से वह सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आजादी भी मिल सकती है, जिसका सपना गांधीजी देखा करते थे। लेकिन इसके लिए हमें अपनी इस क्रांति को तब तक जारी रखना होगा। ऐसा कहा जाता है कि सन् सत्रह के बाद भी कई वर्ष तक रशिया ने अपनी क्रांति की प्रक्रिया जारी रखी। क्या यह आवश्यक नहीं है कि यह अहिंसक क्रांति भी तब तक अविराम चलायी जाय, जब तक कि जनता सामाजिक और आर्थिक, यानी मुकम्मिल आजादी का आलोक महसूस न करने लगे?

मूर्ति नहीं, विचार : यह क्रांति क्या है और उसे कौन चलायेगा? हमारा नेता आज हमारे बीच नहीं है किन्तु उनका संदेश तो है। हम यह मानते हैं कि वे आज भी जी रहे हैं और यदि हम ऐसा मानते हैं तो हमें याद रखना चाहिए कि उनका यह उत्तर जीवन उन मूर्तियों या तस्वीरों में प्रकट नहीं होगा, जिनके उद्घाटन की खबर हम रोज सुनते रहते हैं। इसके लिए तो उनके संदेश को ही मूर्तिमान करना होगा।

एक मिसाल : इस संदेश में क्रांति का बीज मौजूद है। सवाल इतना ही है कि इसे चलायेगा कौन? वैसे तो क्रांति चल ही रही है और जिनके पास दृष्टि है, वे उसे देख भी सकते हैं, चाहे क्रांति का नाम उसे दें या न दें। अभी-अभी राजाओं और महाराजाओं के हाथ से हटकर सारी शक्ति जनता के हाथ में चली गयी और सारा रियासतें राज्य का अविभाज्य अंग बन गयी हैं। ये राजा कल तक इस देश में ब्रिटिश साम्राज्यशाही का आधार थे। तो उनका इस तरह पदच्युत हो जाना कोई छोटी-मोटी चीज नहीं है, और यह सारा परिवर्तन पारस्परिक प्रेम के मधुर-वातावरण में हुआ है।

समय की मांग : तो हम ऐसा कह सकते हैं कि क्रांति का व्यापार अभी बराबर जारी है, यद्यपि दीखता नहीं है। समय की मांग यही है कि हम हनुमान की भांति छलांग भर कर आगे बढ़ें। यही कारण है कि आज हम विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रयत्न में एक बेचैनी देख रहे हैं। यह सब दल अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार योजना बना रहे हैं। कम्युनिस्ट लोग सन् सत्रह की रूसी क्रांति की आवृत्ति करना चाहते हैं। समाजवादी, व्यक्ति के खिलाफ राज्य की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं। गांधीजी की अहिंसक क्रांति में सारा जोर व्यक्ति और आजादी और उसके स्वाभिमान की रक्षा पर था। लेकिन इसके लिए यानी अपनी नैतिक और आध्यात्मिक आजादी

हासिल करने के लिए व्यक्ति को ही खुद ऊंचा उठना होगा। ऐसे नीतिमान व्यक्ति की प्रभुता का आसन राज्य के भी अधिकार के ऊपर होना चाहिए।

हमारी जिम्मेवारी : आज कांग्रेस के हमारे अधिकांश साथी, जिनने गांधीजी के नेतृत्व में आजादी का युद्ध किया था, शासन में लग गये हैं या कांग्रेस का संगठन सुदृढ़ करने में व्यस्त हैं। इस क्रांति का संचालन करने के लिए केवल रचनात्मक कार्यकर्ता ही रह गये हैं। और रचनात्मक काम की विविध प्रवृत्तियों का केन्द्र है, चरखा तथा नयी तालीम। इसलिए यह अहिंसक क्रांति करने का भार खादी और नयी तालीम के कार्यकर्ताओं को उठाना चाहिए।

अहिंसक क्रांति के बीजाणु : अखिल भारतीय चरखा संघ ने यह बात समझ ली है और तद्नुसार उसका एक विकासशील कार्यक्रम भी बना लिया है। उनके कार्यक्रम का मुख्य हिस्सा यह है कि खादी प्रेमी दस-दस सदस्यों के अपने छोटे-छोटे मंडल बना लें। ये मंडल देश भर में अहिंसक क्रांति का विस्तार करने के लिए बीजाणुओं का काम करेंगे। जो लोग यह मानते हैं कि चर्खा अहिंसक क्रांति का प्रतीक है, उन्हें अपना सारा डर छोड़कर इस नये मार्ग को अपनाना चाहिए।

हमारी क्रांति का स्वरूप : यह क्रांति सन् सत्रह की क्रांति की तरह धूम मचाने वाली न होगी। वह तो आत्म-त्याग का कार्यक्रम है। किसी की हत्या का नहीं। उसमें हमें नाश नहीं, निर्माण करना है। वह आत्मशोधन है, पर निन्दा नहीं। उसमें हम किसी का शोषण नहीं करना चहाते, अपने परिश्रम से अपनी हर आवश्यकता के लिए स्वावलंबी बनना चाहते हैं। इसमें व्यापार की धोखा-देही के लिए मौका नहीं है। मन, वचन और कर्म में कहीं भी यह कार्यक्रम हिंसा को आश्रय नहीं देता। ❑

धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद

❑ **किशन पटनायक**

संघ परिवार की विचारधारा के केन्द्र में राष्ट्र और राष्ट्रीयता है, न कि धर्म। धर्म उसकी राष्ट्रीयता का आधार है। संघ परिवार के लिए धर्म का मतलब हिन्दू सम्प्रदाय है। जब-जब हिन्दू समुदाय के अर्थ में भारतीय राष्ट्र, परिभाषित होगा, तब-तब संघ परिवार का राष्ट्रवाद प्रभावी और विश्वसनीय होगा। हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्र को एकाकार करने की रणनीति भाजपा की राजनीति है।

1962 को एक कालबिन्दु माना जा सकता है, जिसके पहले भारतीय राष्ट्र को हिन्दू समुदाय के अंदर सीमित करके देखने की मानसिकता नहीं के बराबर थी। उसके बाद अगर यह मानसिकता बढ़ रही है तो इसलिए नहीं कि लोग अपने राष्ट्र को हिन्दू राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, बल्कि इसलिए कि हिन्दू राष्ट्र ही एकमात्र भारतीय राष्ट्र है, जो दृश्यमान है, जिसे लेकर राजनीति में चिंता और गर्व है। और किसी भारतीय राष्ट्र के बारे में गर्व करने की या उसे दुनिया में आदर्श के रूप में स्थापित करने की बात ही नहीं होती।

जो जितना बड़ा धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी है, उसके लिए 'भारत माता' का उच्चारण उतना अधिक लज्जाजनक है। यह बात सामने आयी जब प्रधानमंत्री नेहरू ने चीन अधिकृत हजारों वर्ग किलोमीटर जमीन को 'बंजर और ऊसर' कहकर भारतवासियों को यह संदेश दिया कि इस भूमि पर चीन का कब्जा होना हमारी नींद खराब करने का कारण नहीं बनता। अपने देश को भारत माता कहने वाला आदमी इस प्रकार का बयान नहीं दे सकता था। युवा नेहरू काफी हद तक गांधी प्रभावित था। एक भौगोलिक इकाई के बारे में भावुक होना उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं था।

देश को भूगोल कहना बौद्धिक है, मिट्टी और पत्थर को माता कहना गंवारपन है और भावुक स्वभाव का लक्षण है। धर्मनिरपेक्षता का औसत नेता और औसत बुद्धिजीवी जाने-अनजाने उस दार्शनिक बहस का पक्षधर है, जिसके अनुसार बौद्धिकता और भावुकता परस्पर विरोधी तत्त्व हैं और मनुष्य का कर्म भावना के द्वारा नहीं, तर्क तथा गणित के द्वारा परिचालित होना चाहिए। इसी बहस ने भारतीय बुद्धिजीवी को एक पिछली किस्म का अंतर्राष्ट्रीयतावादी बना दिया है। दरअसल, उनकी अंतर्राष्ट्रीयता एक छद्म है और राष्ट्रीय जिम्मेदारियों से पलायन का उपाय है। वे या तो अंतर्राष्ट्रीयतावादी बनेंगे या फिर क्षेत्रीयतावादी बनेंगे, लेकिन राष्ट्रवादी नहीं बनेंगे। यूरोपीय मानवतावाद का जो अनुकरण तीसरी दुनिया के देशों के बौद्धिक जगत में हुआ, यह उसी का परिणाम है। एक यह सिद्धांत (थयोरी) भी बनता जा रहा है कि राष्ट्र राज्य (नेशन स्टेट) का जमाना लद गया है। अब तो विश्वयारी (कस्मोपॉलिटॉनिज्म) का नया युग आ चुका है। व्यवहार में यह विश्वयारी उपभोक्तावादी सुख और कमोत्तेजना के अनुसंधान के अलावा और कुछ नहीं है। अपने चारों ओर फैली हुई अमानवीय स्थितियों और संबंधों के बारे में उसकी कोई संवेदनशीलता या सरोकार रहता ही नहीं है। विश्व की बात कह कर अपने पड़ोस को नजरअंदाज करने का

अच्छा बहाना मिल गया है इन विश्वयारों को। गांव, राष्ट्र और धर्म—ये सब आदमी अपने पड़ोस के प्रति उत्तरदायी बनाने की अवधारणाएं हैं। विश्वयारी इन तीनों बंधनों से मुक्त होना चाहती है।

1962 के पहले के ऐतिहासिक कारणों से भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सर्वोच्च प्रतीक जवाहरलाल नेहरू थे। 1962 के बाद इस नेहरू वाले प्रतीक में राष्ट्र के प्रति भावना की तीव्रता नहीं दिखायी दी। धर्मनिरपेक्षता के मामले में नेहरू के सबसे नजदीक कम्युनिस्ट पार्टियां थीं, तो 1962 में कम्युनिस्टों के देश प्रेम के बारे में जरूरत से अधिक प्रश्नचिह्न लग गया था। उन्हीं दिनों संघ परिवार का राष्ट्रवाद पहली बार विश्वसनीय होने लगा। इसलिए नहीं कि राष्ट्रवादी संबंधी उनकी धारणा लोकप्रिय थी, बल्कि इसलिए कि संघ का राष्ट्रवाद निःसंकोच था। यही समय था जब जनसंघ के नेता (दीनदयाल उपाध्याय) का एक 'राष्ट्रीय नेता' वाली छवि बन गयी। तब से आज तक राष्ट्रवाद की भावना को एक सकारात्मक राजनैतिक मुद्दे के रूप में अनवरत सक्रिय रखना सिर्फ संघ परिवार का कार्यक्रम रहा है। अन्य किसी राजनैतिक या बौद्धिक समूह के विचारों में यह एक प्रभावी तत्त्व नहीं रह गया है। पिछले पचीस साल की (लोहिया के बाद की) राजनीति के बारे में यह कहा जा सकता है कि भाजपा जनसंघ को छोड़कर अन्य किसी दल या खेमा के लिए राष्ट्रवाद एक निर्णायक मुद्दा नहीं रहा है।

राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रवाद की अनिवार्यता है या नहीं? क्या एक अराष्ट्रीय विचारधारा के तहत संघ परिवार की आक्रामकता का मुकाबला किया जा सकता है? धर्म निरपेक्षतावादी बौद्धिकजन इस प्रश्न का उत्तर देंगे।

राष्ट्र की अवधारणा बहुत पुरानी है। देश के साथ-साथ उसकी एक भावना पैदा हुई है। लेकिन एक खास अर्थ में यह यूरोपीय इतिहास की देन है। राष्ट्र और राज्य की एक ही भौगोलिक परिधि होगी—इस अर्थ में राष्ट्र और राष्ट्रवाद एक आधुनिक (यूरोपीय) अवधारणा है। एक राष्ट्र का एक राज्य होगा, एक राज्य में एक राष्ट्र होगा—प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक यह सिद्धांत यूरोप में जम चुका था और दुनिया के अन्य हिस्सों को प्रसारित हो रहा था। उसके पहले के पांच सौ साल या उससे भी अधिक समय का यूरोपीय इतिहास आपसी युद्ध, आक्रमण और बाहरी हस्तक्षेप, दूसरी तरफ पड़ोसी देशों का आक्रमण—इन दो प्रकार के हमलों से लड़ने के लिए यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। राष्ट्रीय भावना को जनमानस में दृढ़ करने के लिए काव्य और दर्शन के माध्यम से एक मूल्य के रूप में इसे महिमामंडित किया गया। विख्यात जर्मन दार्शनिक हेगेल ने राष्ट्र को एक आध्यात्मिक इकाई का दर्जा दिया। अगर यूरोपीय देशों में धार्मिक हस्तक्षेप और परस्पर युद्ध के कारण राष्ट्रवाद विकसित हुआ तो बाद के समय में यूरोप के साम्राज्यवादी हमले से आत्मरक्षा के उद्देश्य से गैर-यूरोपीय जनसमूहों के अंदर राष्ट्रवाद का विकास हुआ। जनसमूहों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का हस्तक्षेप हुआ और बढ़ता गया। अपने धर्म, संस्कृति और आर्थिक सुरक्षा को स्वायत्त रखने के राजनैतिक स्तर पर अपनी अस्मिता को जागृत करना और परिभाषित करना आवश्यक हो गया।

आधुनिक सभ्यता ने जिस आर्थिक विकास पद्धति को अपनाया है, उसके चलते कोई भी जनसमूह बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप से सुरक्षित नहीं हो सकता क्योंकि इस विकास प्रणाली में 'अपने' जनसमूह को समृद्ध बनाये रखने के लिए कुछ अन्य जनसमूहों को राजनैतिक और आर्थिक रूप में निरंतर पिछड़ा बनाये रखना आवश्यक है, ताकि उनका बाजार, कच्चा माल और सस्ता श्रम अपने को उपलब्ध होता रहे। इस दोहरी दुनिया में 'अपना' कौन है और 'अन्य' कौन है, इसका उत्तर देना पड़ता है। इसलिए औपनिवेशिक विकास पद्धति के इस युग में राष्ट्रवाद एक अपरिहार्य भावनात्मक मूल्य है। यही प्रमुख राजनैतिक अस्मिता है। किस भौगोलिक सीमा पर हम अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का निरूपण करेंगे—वह सिर्फ हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। हम एक बड़ा राष्ट्र बनाना चाहेंगे, बाहरी ताकतें इसे होने नहीं देंगी। यूरोप की हमेशा कोशिश रही है कि गैर-यूरोपीय जनसमूहों का कोई विशाल और मजबूत राष्ट्र न बन पाये। समग्र अरब जनसमूहों का एक राष्ट्र, अफ्रीका के समूचे काले लोगों का एक राष्ट्र या अखंड हिन्दुस्तान जैसी संभावनाओं को यूरोप ने सफलतापूर्वक रोका है और नष्ट किया है। इसलिए कोई नहीं कह सकता कि गैर-यूरोपीय राष्ट्रों का निर्माण बिल्कुल मनमानी ढंग से, जरूरत से बड़े आकार में हो गया है।

यूरोप के अधीनस्थ देशों के जितने राष्ट्र बने हैं, उनका निर्माण घोर प्राकृतिक दबावों के बावजूद हुआ है। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता व्यवहारिक सीमाओं के अंदर निरूपित हुई है और प्रामाणिक है।

जहां एक राष्ट्र जानबूझकर साम्राज्यवादी नहीं है अगर वहां का राष्ट्रवाद भी संकीर्ण या आक्रामक रवैया प्रदर्शित करता है तो उसका असली कारण आधुनिक विकास पद्धति है। अगर भारतीय राष्ट्र देश के आदिवासी जनसमूहों को पिछड़ा रखना चाहता है, तो इसका कारण राष्ट्रवाद नहीं है। इसका कारण है विकास पद्धति। इस समस्या का समाधान अलगाववाद या विच्छिन्नतावाद नहीं है। मौजूदा पद्धति को बदलना ही इसका स्थायी प्रतिकार है। विकास पद्धति को बदलने से राष्ट्रवाद की बहुत सारी रूढ़ियां खत्म हो जायेंगी।

यह कहा जा चुका है कि राष्ट्रवाद की

प्रेरणा भले यूरोप से आयी हो, लेकिन यूरोप की हमेशा यह कोशिश रही है कि एशिया-अफ्रीका में राष्ट्रवाद बन न पाये। यह कोशिश सिर्फ यूरोप की सरकारों तक सीमित नहीं है। यूरोप के बुद्धिजीवी का हमेशा यह रुख रहा कि गैर-यूरोपीय जनसमूहों के लोग अपना कोई स्वतंत्र ज्ञान विकसित न करें। विभिन्न क्षेत्रों में चल रही, अपनी पारंपरिक प्रणालियों को संजीवित न करें, संवर्धित न करें। आश्चर्य की बात है कि कम्युनिस्टट बुद्धिजीवियों का भी यह रुख रहा, बल्कि अधिक रहा।

भारतीय कम्युनिस्ट तो यहां तक चले गये कि उन्होंने रणकौशल के स्तर पर भी राष्ट्रीय भावना को त्याग दिया। वियतनाम और चीन के कम्युनिस्टों और भारत के कम्युनिस्टों में बुनियादी अंतर यही है। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि चीन और वियतनाम की तरह भारत में भी कम्युनिस्टों को सफलता न मिलती। जब भविष्य का लेखक भारत में कम्युनिस्ट क्रांति की विफलता का विश्लेषण करेगा, उसकी इच्छा यह कहने की होगी कि 1990 के सोवियत पतन का इस पर बहुत बुरा असर पड़ा। यह उसकी गलती होगी। भारत में कम्युनिस्टों की वर्तमान विफलता के पीछे सोवियत विघटन का रत्ती भर भी कारण नहीं है। भारत के समाजवादियों की तुलना में कम्युनिस्ट अधिक संगठित और प्रभावशाली रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कम्युनिस्ट आंदोलन क्रांतिकारी था। लेकिन अराष्ट्रीय होने के कारण राष्ट्रीय समाज की समस्याओं का उसे ज्ञान नहीं हो पाया। समस्याओं के बारे में सही नीति अपनाने के बजाय वह वास्तविकता से दूर हटता गया।

1947 के बाद के भारत में पूंजीवादी-उदारवादी बुद्धिजीवी और कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी—इन दो समूहों के द्वारा शिक्षित समाज की वैचारिक समझ प्रभावित थी। (समाजवादियों का प्रभाव नगण्य था। 1970 के पहले तक संघ परिवार का बौद्धिक प्रभाव उल्लेखनीय नहीं था) भारत का उदारवादी अक्सर अराष्ट्रीय होता है, लेकिन वह आचरण में ही अराष्ट्रीय होता है। सिद्धांत के तौर पर या लेख लिखकर वे राष्ट्रवाद का विरोध नहीं करते। राष्ट्रवाद के विरुद्ध सबसे लंबे निबंध मार्क्सवादियों ने लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रवाद का मतलब पड़ोसियों पर हमला करने वाला राष्ट्रवाद है। हालांकि खुश्चेव की भारत यात्रा के बाद से अभी तक पाकिस्तान विरोधी बयान देने में और पाकिस्तान को भारत के एकमात्र दुश्मन के रूप में घोषित करने में कम्युनिस्ट पार्टियां भाजपा से पीछे नहीं रही या किसी के पीछे रहीं तो सिर्फ भाजपा के। कम्युनिस्टों की दृष्टि में शायद गांधीजी एक उग्र राष्ट्रवादी (शाविनिष्ट) नेता थे, क्योंकि वे धर्म के आधार पर भारत के विभाजन के कट्टर विरोधी थे। यह सचमुच इतिहास की एक विडंबना है जब कम्युनिस्ट कहते हैं कि राजनीति से धर्म को बहिष्कृत करना होगा। यह बात याद करने के काबिल है कि आजादी आंदोलन के एक नाजुक समय में उनकी पार्टी ने धर्म को आधार मानकर पाकिस्तानी राष्ट्रीयता का समर्थन किया था। इसका मतलब यह नहीं कि कम्युनिस्ट धर्मवादी हो गये थे, इसका मतलब सिर्फ इतना है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बारे में कम्युनिस्टों की समझदारी कभी भी नहीं बन पायी है। उनकी दिक्कत यह है कि जब वे गलतियों को बहुत दिनों बाद स्वीकारते हैं, यह स्वीकार एक औपचारिक कार्य होकर रह जाता है। गहराई में जाकर वे प्रायश्चित नहीं करते। प्रायश्चित न करने पर गलतियों का संस्कार मन में रह जाता है। 1942 की गलती को वे मान चुके हैं, फिर भी राष्ट्र संबंधी उनकी अवधारणा साफ नहीं हुई है। बाबरी मस्जिद टूटने के बाद वे कहते हैं कि धर्म संबंधी एक स्पष्ट धारणा बनाने जा रहे हैं? मनुष्य के इन दो आधारभूत तत्त्वों (धर्म और राष्ट्र) के बारे में विचारशून्यता के कारण मस्जिद टूटने का सबसे बड़ा धक्का कम्युनिस्ट खेमा को लगा है। उनका खेमा बिलकुल हिल गया है। वे ढकेल दिये गये हैं 1977 की पूर्व की स्थिति को, जब वे ब्रेझवेन की सलाह मानकर कांग्रेस पर आश्रित हो गये थे। अपने बल पर सांप्रदायिकता की शक्तियों से लड़ने का आत्मविश्वास उनमें बिल्कुल नहीं है। वे न सिर्फ स्वयं कांग्रेस खेमे के सहयोगी होना चाहते हैं, बल्कि समूचे गैरभाजपायी विपक्ष को कांग्रेस खेमे के साथ जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। वे अगले चुनाव में, प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से, जानबूझकर कांग्रेस को मदद करने की गंभीर गलती करने जा रहे हैं।

भारतीय कम्युनिस्टों की आलोचना का कतई यह मतलब नहीं है कि भारतीय समाजवादी उनसे बेहतर रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी आंदोलन की अपनी विचारधारा कभी नहीं बन पायी है। समाजवादी विचारों का एक हिस्सा पूंजीवादी उदारवादी विचार का अनुकरण है तो दूसरा हिस्सा कम्युनिस्ट विचारों की छाया है। एक मौलिक दर्शन के तहत इन दो हिस्सों का सृजनात्मक समन्वय डॉ. लोहिया के चिन्तन और व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, लेकिन उनके अनुयायियों की अयोग्यता के कारण इसकी धारावाहिकता और व्यापकता खत्म हो चुकी है। वर्तमान भारत के समाजवादियों ने लोहिया के कार्यक्रमों को अलग-अलग करके माना है, लेकिन समाजवाद की न कोई वैचारिक धारा रह गयी है न कोई समग्र आंदोलन दिखायी देता है। राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के संबंध में उनकी भी कोई स्पष्ट समझदारी नहीं है जो प्रचारित हो सके। इतना तो हरेक समाजवादी कह देगा कि धर्म के द्वारा राष्ट्रीयता को परिभाषित करना गलत है। लेकिन राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद किसी काम की

चीज है या नहीं, इसके बारे में एक औसत समाजवादी कुछ भी कह नहीं पायेगा। राष्ट्र के बारे में और खासकर राष्ट्रवाद के बारे में अभी भी बहुत सारे समाजवादियों की सोच कम्युनिस्टों की जैसी है।

राष्ट्रीयता कहिये, राष्ट्रवाद कहिये, अस्मिता कहिये या मिथक कहिये, बात एक है। अपनी भौगोलिक इकाई को अगर इस मिथक के सहारे आप एक भावनात्मक इकाई का दर्जा नहीं देते हैं, तो उसकी सीमाओं के अंदर रहने वाले जनसमूह के समग्र विकास और सामूहिक उत्थान के लिए आप समर्पित होकर कार्य नहीं कर सकते। इस जनसमूह के एक-एक व्यक्ति से संबंध स्थापित करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है—सिवाय इस भावनात्मक सूत्र के। धर्म, संस्कृति, भाषा, राष्ट्र और गांव—ये अलग-अलग उद्देश्यों के लिए अलग-अलग भावनात्मक इकाइयां हैं। इन मिथकों की आवश्यकता सामान्यजन और बुद्धिजीवी दोनों के लिए समान मात्रा में है। ऐसा नहीं कि बुद्धिजीवी के लिए इनकी जरूरत नहीं है। अगर इन मिथकों का नियंत्रण बुद्धिजीवी पर नहीं रहेगा, तो वह मानव समाज के लिए विध्वंसक हो जायेगा राष्ट्र के लिए वह विश्वासघातक हो जायेगा। वह अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा देगा।

तीसरी दुनिया के देशों में, जहां राष्ट्रीय भावना की कमी हो गयी है, ऐसा ही हो रहा है। बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा रहा है। इस वक्त यूरोप, अमेरिका और जापान में राष्ट्रीय भावना सबसे अधिक मात्रा में है, तो सबसे कम भारत जैसे देश के बुद्धिजीवी समूहों में है। लातीनी अमेरिका, अफ्रीका और भारतवर्ष के शासक वर्ग का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा साम्राज्यवादियों का पिछलग्गू है। यह तबका इतना बड़ा है कि इसे देशद्रोही कहना राष्ट्र को कलंकित करना होगा। इसलिए इसको राष्ट्रद्रोही नहीं कहना चाहिए, उसके चरित्र के बारे में सचेत रहना चाहिए। निजी स्वार्थ के लिए इस तबके के लोग अपने देश के भविष्य हित को बेच रहे हैं। 6 दिसंबर के बाद जो सबसे बड़ा शर्मनाक काम हुआ है, वह 5 मार्च को बिना शोरगुल के संपन्न हुआ है। भारत के सारे भूगर्भीय खनिज पदार्थों को विदेशी कंपनियों को बेचने का निर्णय भारत सरकार ने उसी दिन किया। बुद्धिजीवी वर्ग के किसी महत्त्वपूर्ण भाग में इसे लेकर खलबली नहीं मची है। इसी से समझ लेना चाहिए कि पिछलग्गू या पिट्ठू होने का चरित्र जब इतिहास को प्रभावित करता है तब यह चरित्र व्यक्ति चरित्र के रूप में नहीं उभरता है। यह एक वर्ग चरित्र होता है। जयचंद और जगत सेठ का चरित्र व्यक्ति चरित नहीं था। यह वर्ग चरित्र उस समाज की उपज था, जिसमें सामूहिक लक्ष्य का कोई प्रबल मिथक नहीं रह गया था, जब समान नागरिकता की संभावना धर्म के अंदर भी पूरी तरह खत्म हो चुकी थी। वर्तमान भारत के संदर्भ में इस वर्ग चरित्र का जन्म राष्ट्रीय मिथक के अभाव में हुआ है। जिन अधिकारों को हथियाने के लिए ईस्टइंडिया कंपनी को इतने सारे युद्ध करने पड़े थे, उन सारे अधिकारों को बेचने के लिए आज दिल्ली का संसद भवन एक सुपर बाजार बना हुआ है। यानी 1757 के भारतीय शासक वर्ग की तुलना में आज के भारतीय शासक वर्ग की राष्ट्रीय भावना अधिक कमजोर है।

राष्ट्रवाद को उग्र राष्ट्रवाद कहकर उसका रचनात्मक उपयोग न करना एक अजीब किस्म का बौद्धिक पलायनवाद है। साम्राज्यवाद से लड़ने का और कौन-सा दूसरा साधन है? देश रक्षा और आर्थिक विकास के दायित्व में जो लोग हैं वे अपने बच्चों का भविष्य विदेशों में न देखें—इसी देश के अंदर देखें, इसकी गारंटी और क्या हो सकती है? अनाज की कमी वाले देश में किसानों का ध्यान सिर्फ नकदी लाभकारी फसलों की ओर न जाकर खाद्यान्न के उत्पादन की तरफ जाये, इसकी प्रेरणा कहां से आयेगी? राष्ट्रीयता अगर भावुकता ही है, भावुकता में क्या बुराई है? मनुष्य के व्यवहार में भावुकता की इसलिए जरूरत होती है कि कुछ प्रकार की चुनौतियों का तत्काल, बिना बहस किये, मुकाबला करना पड़ता है। जिन चुनौतियों का मुकाबला तत्काल और सामूहिक ढंग से करना पड़ता है, आने वाली उन सारी चुनौतियों के लिए भावनाएं तैयार रहनी चाहिए। देश के खदानों की मिल्कियत विदेशियों को दे देना सही है या गलत है—इसकी बहस करने वाला कभी भी अपने खदानों की रक्षा नहीं कर पायेगा। मेरी मां की कुरूपता पर मजाक करने वाले सज्जन को मैं कोई रोषपूर्ण वाक्य कहूं या न कहूं—यह लंबी बहस के बाद तय नहीं हो सकता।

भावनाएं, संबंध वाली भावनाएं और सामूहिक भावनाएं अपने आप में विशुद्ध नहीं होती हैं। भावनाओं को संस्कृति से लैस करना पड़ता है। अलग-अलग स्थान और काल में भावनाओं की अंतर्निहित संस्कृति अलग-अलग होती है। कुछ विचार भावनाओं के अंदर अदृश्य होकर निहित रहते हैं। जैसे हम बढ़िया स्वाद के लिए काला जामुन खाते हैं तो कुछ पौष्टिक तत्त्व भी उस जामुन के भीतर रहता है। मेरे खाने की इच्छा से उसका कोई सरोकार नहीं है। चालीस साल पहले भारत में सर्वत्र एक कहावत प्रचलित थी : जिसका बेटा लायक है, वह क्यों संचय करे? जिसका बेटा नालायक है, उसको भी संचय नहीं करना चाहिए। क्योंकि नालायक बेटे को कष्ट झेलना चाहिए। यह किसी एक युग की संस्कृति थी, इसके द्वारा पुत्रमोह की भावना या परिवार के लिए संचय करने की भावना को मर्यादित किया जाता था। इस संस्कृति के खत्म होने के बाद परिवारिक संचय की अमर्यादित वृत्ति समाज और देश के लिए अभिशाप बन गयी है। भावना वही है, लेकिन उसका व्यावहारिक रूप

भिन्न है, सारा महाभारत पारिवारिक मोह (पुत्र मोह) को मर्यादित करने की शिक्षा देने वाली अनुपम गाथा है।

राष्ट्रीयता भी ऐसी एक सामूहिक भावना है, जिसकी संस्कृति, जिसका व्यावहारिक रूप अलग हो सकता है। वह एक संकीर्ण भावना होगी या एक उदार भावना होगी, उसका रुझान साम्राज्यवादी होगा या विश्वमैत्री की दिशा में होगा, उसका अंदरूनी तेवर सामान्य जन के लिए अनुकूल है या एक विशिष्ट वर्ग के हित में है, यह इस पर निर्भर करता है कि समाज का नेतृत्व और बुद्धिजीवी वर्ग राष्ट्रीय भावना को किन नीतियों के साथ जोड़कर अभिव्यक्त करते हैं। गांधी और रवीन्द्रनाथ ने इसे कुछ खास नीतियों के साथ जोड़कर अभिव्यक्त किया, गोलवलकर और बाल ठाकरे ने भिन्न ढंग से किया। कम्युनिस्ट भी इससे बच न सके, उनकी राष्ट्रीयता पाकिस्तान विरोध के रूप में अभिव्यक्त होती है। साधारण जन देश की अधिकांश समस्याओं को राष्ट्रीय भावना के माध्यम से समझ पाता है। ट्रेड यूनियनों के लिए राष्ट्र कभी एक मुद्दा नहीं बनता है। ट्रेड यूनियननुमा किसान संगठनों का भी बुरा असर किसानों पर पड़ रहा है। किसान समझ नहीं पा रहा है कि अधिक लाभ के लिए ज्यादा रासायनिक खाद डालकर भारत की मिट्टी को कमजोर बना दे या देशी बीज का इस्तेमाल कर देश की मिट्टी को बरकरार रखे। अगर बुद्धिजीवी वर्ग आत्मनिर्भर कृषि को राष्ट्रीय आत्मसम्मान की नीति के रूप में पेश करेगा तो किसानों की भी राष्ट्र भावना जगेगी और जरूरत पड़ने पर खेती के कठिन उपायों को अपनाने के लिए किसान तैयार हो जायेगा।

नेताओं और बुद्धिजीवियों के न चाहने से राष्ट्रीय भावना खत्म नहीं होगी। किसी न किसी तरह वह अभिव्यक्त होगी। साम्राज्यवाद से बचने के संदर्भ में उसे अभिव्यक्त नहीं किया जायेगा, तो इतिहास का बदला लेने के लिए उसका उपयोग होगा। चीन के कब्जे से जमीन छुड़ाने के लिए उसका उपयोग नहीं होता तो श्रीलंका या पाकिस्तान से लड़ने के लिए इसका इस्तेमाल होगा। पूरी आबादी के संदर्भ में अगर भावनाएं सक्रिय नहीं होंगी, तो किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष की भावना बनकर उसका विस्फोट होगा। जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्र राष्ट्र का विकल्प बन जायेंगे। भारत की साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता का ही एक संकीर्ण और विकृत अवतार है।

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगा—दोनों में फर्क है। दंगे के संदर्भ में सद्भावना का कार्यक्रम एक सही कार्यक्रम है। लेकिन सद्भावना सभाओं के द्वारा साम्प्रदायिकता का प्रतिकार नहीं हो सकता। साम्प्रदायिकता एक विचारधारा है। यह विकृत राष्ट्रीयता की विचारधारा है। एक बेहतर राष्ट्रीय विचारधारा जो अधिक व्यावहारिक भी हो, उसका एकमात्र और स्थायी प्रतिकार हो सकता है। इस वक्त राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त करने का सबसे महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक संदर्भ आर्थिक नीतियां हैं, क्योंकि ये नीतियां राष्ट्र और जनसाधारण दोनों के विरुद्ध एक षड्यंत्र हैं। जब-जब राष्ट्रीय भावना और जन-असंतोष की चेतना का संयोग एक ही मुद्दे पर होता है, तब-तब दरिद्र देशों का जनसाधारण देश और वर्ग दोनों के लिए सक्रिय होता है। ऐसे समय में सामान्य नागरिक की राजनैतिक चेतना अधिकतम होती है। मध्य वर्ग का जो हिस्सा सम्पन्न नहीं है, वह राष्ट्रीय भावना के प्रभाव में जल्दी आता है। इसलिए मध्य वर्ग और किसान मजदूर वर्ग के हितों में भी टकराव कम से कम होता है। संभवतः भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में यह संयोग (राष्ट्रीय हित और सामान्यजन के हित का संयोग) पर्याप्त मात्रा में नहीं था, क्योंकि धनी बुर्जुआ वर्ग का स्वार्थ राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करने का मतलब है धनी बुर्जुआ वर्ग के उपभोक्तावाद और मुनाफावाद पर रोक लगाना। आर्थिक राष्ट्रवाद इस समय की राष्ट्रीयता का मुख्य बिन्दु बन सकता है, इसे धनी बुर्जुआ वर्ग हतोत्साहित कर रहा है। साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद और आर्थिक राष्ट्रवाद में से चुनना होगा तो वह प्रथम को चुनेगा। कुछ लोग गलत कहते हैं कि आर्थिक राष्ट्रवाद भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए अनुकूल पड़ेगा। पड़ना चाहिए, पर काश ऐसा होता। पड़ेगा नहीं, क्योंकि भारत का पूंजीपति वर्ग विकास की दीर्घकालीन दृष्टि को मानता नहीं है। तात्कालिक मुनाफा और तात्कालिक उपभोक्तावाद के बाहर और किसी चीज को वह आर्थिक विकास मानने को तैयार नहीं है। मुनाफा और उपभोक्तावाद की तात्कालिकता पर रोक लगाना आर्थिक राष्ट्रवाद का पहला सूत्र होगा।

चुनौती का रूप है : आर्थिक राष्ट्रवाद बनाम धार्मिक राष्ट्रीयता। इस सूत्र के अनुसार धार्मिक राष्ट्रीयता (जिसे आडवाणी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहना शुरू किया है) की भूमिका से राव-सिंह सरकार को खुश होना चाहिए। क्या वे खुश हैं? यह कहना गलत होगा कि कांग्रेस धार्मिक राष्ट्रवाद का समर्थक होने जा रही है या हो गयी है। बात इतनी है कि कांग्रेस इससे खुश है कि आर्थिक राष्ट्रवाद उभर नहीं पा रहा है। सत्ताधारियों के संतोष का कारण कभी-कभी बहुत टेढ़ा (परोक्ष) होता है। इस संतोष के चलते अगर कांग्रेस दुविधाग्रस्त होती है या उसकी सरकार खतरे में पड़ जाती है तो सत्ता के दलालों का कोई नुकसान नहीं होने वाला है, और न सत्ता पर नियंत्रण करने वालों का कोई नुकसान होने वाला है।

कांग्रेस और भाजपा का आपसी विरोध नकली नहीं है। उनके राजनैतिक विचार भिन्न हैं। लेकिन दोनों पर अगर एक ही प्रकार के अर्थिक स्वार्थ हावी हैं तो एक की जीत और दूसरे की हार या दूसरे की जीत और एक की हार से इतिहास को ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला है। संघ परिवार की सफलता की कसौटी क्या यह है कि केन्द्र में भाजपा की

सरकार बन जाये *(बन गयी है—सं.)*? जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे सरलीकरण की गलती करते हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बने, इसके लिए भाजपा नेताओं में जितनी आतुरता होगी, संघ परिवार के अन्य घटकों के नेताओं में उतनी आतुरता नहीं होगी। उनकी आतुरता सिर्फ इसलिए होगी कि देश में एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियां पैदा हों। अगर कांग्रेस की आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक तनाव बढ़ते हैं, पूरी व्यवस्था में ब्राह्मण-बनिया वर्चस्व भी बढ़ता है, तो संघ परिवार के नेतृत्व में कांग्रेस के साथ सहअस्तित्व का एक विचार भी पैदा हो सकता है।

संघ के विचारक तीक्ष्ण बुद्धि के हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबाजी उन्हें नहीं। संघ परिवार की विचारक मंडली में कुछ साहब-बुद्धिजीवी आ गये हैं, जो पहले नहीं होते थे। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबजी उन्हें भी नहीं है। राजनीति पर जिस अनुपात में नियंत्रण होने से एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति पैदा की जा सकती है और आर्थिक राष्ट्रवाद की हरकतों को रोका जा सकता है, उस अनुपात की राजनैतिक शक्ति हासिल करना इस वक्त संघ परिवार का लक्ष्य होगा। अगर भाजपा की एकदलीय सरकार लंबे समय तक केन्द्र में नहीं बनती है तो हर्ज नहीं है। बनना आसान भी नहीं है। केन्द्र में भाजपा की सरकार एकाएक बन जाने से कई तरह की तीव्र प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। अतः कांग्रेस-भाजपा के सहअस्तित्व की संक्रमणकालीन रणनीति ज्यादा फायदेमंद हो सकती है। इस संक्रमण काल में एक कमजोर और बूढ़ी कांग्रेस कुछ गैरकांग्रेसी समूहों का कलेजा खाकर ही जीवित रह सकती है। गैरकांग्रेसी समूहों को अपनी आर्थिक नीतियों के फंसाने के लिए वह अपनी कमजोरी और बूढ़ेपन का बहाना भी कर सकती है। ❑

गतांक से आगे...

कछुआ और खरगोश

❑ **डॉ. जाकिर हुसैन**

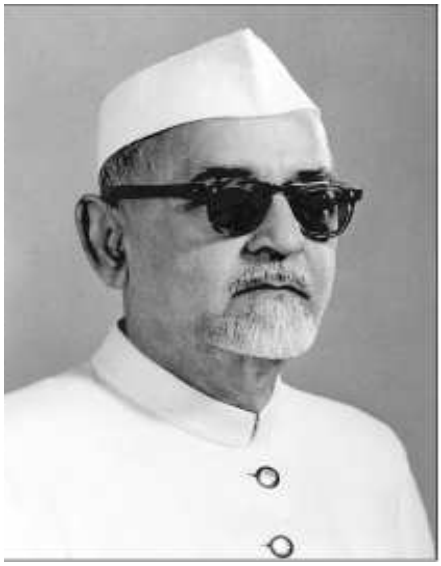

हार और जीत की इतनी पुरानी कहानी। आज नये लोगों को तो इसकी सीख भी पुरानी, घिसी-पिटी ही लगेगी। पर जब इसी कहानी को सुनाने वाले डॉ. जाकिर हुसैन जैसे शिक्षाविद हों तो पक्का भरोसा है कि सब कुछ बदल जाता है। फुर्तीला खरगोश यहां आलस नहीं दिखाता, रास्ते में सोता नहीं है। और सातत्य निभाने वाला कछुआ यहां ठिठक जाता है और हम सबके सामने कुछ बड़े प्रश्न रख जाता है। यह कहानी केवल कछुआ और खरगोश की नहीं, बल्कि एक जमाने, उसके समाज, उसकी संस्कृति और उसका साहित्य, सामाजिक परिवर्तन की लेती करवटों की कहानी है। कहानी है जमुना नदी, जंगल, जानवर, तीतर, खरगोश, यमुना की मछलियां तथा बच्चों के पाठशाला के प्रोफेसर, पंडित और मुल्ला की। यह कहानी है मनुष्य जाति के परस्पर संबंधों की और इस कहानी के पात्रों से सीख लेने की। प्रस्तुत है उनकी इस एक लंबी कहानी का संपादित रूप। **–सं.**

''दौड़ खरगोश और कछुए में हो तो कौन जीतेगा?''

इस विषय पर विस्तारपूर्वक बातों में जाये बिना यदि यह सवाल किया जाये तो मैं कह सकता हूं कि कछुआ भी जीत सकता है और खरगोश भी। हाल और स्थिति को देखते हुए यह निर्णय होगा कि कौन जीतेगा? शास्त्रीय तर्क संभवतः यह होगा कि खरगोश तेज दौड़ता है और कछुआ धीरे-धीरे चलता है, किन्तु यह शास्त्रीय तर्क अंतिम तर्क नहीं। यदि अनुभव पर आधारित है तो स्वयं अनुभव के आधार पर कोई निर्णय लेना ठीक नहीं होगा। इसे बहुत आसानी से तोड़ा जा सकता है। अनुभव हर रोज सुबह-शाम तक झूठ बोलता है, धोखा देता है, रेत को पानी बताता है, सूरज को धरती के चारों ओर घूमता हुआ बताता है, आदि-आदि। अच्छा, मौलाना, रात में मैं इस समस्या पर चिन्तन करूंगा और सवेरे आपके साथ चलकर कछुए से मिलूंगा।''

सवेरे-सवेरे मौला अलफलसेफुलहिन्दी के घर पहुंच गये। दोनों साथ-साथ नदी पर गये। रोजा की तरह कछुआ न जाने कब से प्रतीक्षा में बैठा था। दोनों को देखकर उसकी बाछें खिल गयी, बोला, ''आओ मुल्लाजी, आओ, और महोदय तुम पधारो।''

मुल्ला ने कहा, ''कछुराम, यह मेरे दोस्त अलफलसेफुलहिन्दी हैं। मैंने इन्हें बता दिया है कि तुम्हें क्या प्रश्न सता रहा है। ये इसे अच्छी तरह सोचकर आये हैं और तुम्हें सब ऊंच-नीच समझा देंगे।''

''पा-लागन महाशय जी।''

कछुए की जुबान प्रोफेसर और डॉक्टर पर तो लौट गयी थी मगर ये अलफलसेफुल-हिन्दी शब्द उसकी पकड़ से बाहर था।

अलफलसेफुलहिन्दी ने कहा, ''जनाब कछुआ साहब, आप मेरे मित्र मौलवी गुफरान के दोस्त हैं। इन्होंने मुझे आपका सवाल बता दिया है, मगर मैं यह नहीं बता सकता कि जीत किसकी हुई थी। मैं दौड़ के समय खड़ा हुआ तो नहीं देख रहा था और यदि देख भी

रहा होता तो यह बात कब अनिवार्य थी कि जो कुछ मैंने देखा, वह ठीक होता? देखने में भी तो बड़े-बड़े धोखे होते हैं। इसलिए इस बात पर कोई विवाद नहीं हो सकता।''

''कम-से-कम मेरे लिए इसका होना न होना एक-सा है। सवाल तो यह है कि यदि तुममें और खरगोश में दौड़ हो तो कौन जीतेगा? कौन जीता था नहीं, कौन जीतेगा? भविष्य में भूतकाल का दोहराना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता।''

कछुए ने फिल मुल्लाजी का मुंह ताकना शुरू किया। मुल्लाजी ने फिर अर्थभरा संकेत किया।

''हां, कौन जीतेगा, इस प्रश्न में तीन स्थितियां हैं—पहली स्थिति यह कि खरगोश तेज दौड़े, तुम धीरे-धीरे चलो। वह भी बराबर दौड़ता रहे और तुम भी बराबर चलते रहो तो फिर तुम हारोगे, खरगोश जीतेगा।''

कछुए ने एक गहरी सांस खींची, आंखें जरा-जरा गीली हुई, बोला, ''तो ये सब हमने जो सुन रखा था, सब झूठ था? खरगोश जीतेगा?''

अलफलसेफुलहिन्दी ने कहा, ''कछुआ साहब, जल्दी न कीजिए। जो बात मैंने कही, वह पहली स्थिति है और उसके साथ भी शर्तें हैं। ये शर्त कि खरगोश तेज दौड़ता है, आप धीरे-धीरे चलते हैं और आप दोनों बराबर चलते हैं तो ऐसी हालत में खरगोश जीतेगा।''

एक स्थिति और भी है कि खरगोश ही तेज दौड़ता है और आप धीरे-धीरे चलते हैं, किन्तु आप बराबर चलते रहते हैं और खरगोश बीच में कहीं सो जाता है तो फिर यदि वह उचित समय पर न उठे और न दौड़े तो आप धीरे-धीरे चलकर भी जीत जायेंगे।''

''मैं जीत जाऊंगा?''

''हां, यही कह रहा हूं, मगर यह भी तो शर्त लग रही है कि खरगोश रास्ते में सो जाये।''

''मुल्लाजी, तो वह सोयेगा क्यों, उसे कौन सुलायेगा?''

अलफलसेफुलहिन्दी ने कहा, ''अगर खरगोश सोयेगा नहीं या रुकेगा नहीं, अर्थात यदि वह ठीक दिशा में अपनी निश्चित गति से, जो आपकी गति से तीव्र है, गतिशील रहेगा तो फिर वह पहली स्थिति होगी जो मैंने बतायी थी, और खरगोश जीतेगा।

मुल्लाजी ने कछुए की वकालत करते हुए कहा, ''हजरत अलफलसेफुलहिन्दी, यह तो स्पष्ट ही है कि खरगोश की गति तीव्र है और कछुए की धीमी, और ये बात सभी जानते हैं कि कछुआ खरगोश से तेज नहीं दौड़ सकता।''

अलफलसेफुलहिन्दी ने जवाब दिया, ''होगा मुल्लाजी, लेकिन मैं यह नहीं कहता, न कह सकता हूं। यह तो अनुभव पर आधारित ज्ञान है। ऐसा होना संभव भी हो सकता है और असंभव भी। तर्क के नियमानुसार इसे अनिवार्य नहीं माना जा सकता। अनुभव को तर्क में मिलाने से जो धोखे हो सकते हैं, उनकी ओर मैं पहले संकेत कर चुका हूं। बुद्धिमानों को संकेत ही पर्याप्त होता है। याद रहे कि मैं तो वह कहता हूं जो तर्कसंगत होता है। केवल अनुमान और भ्रम के आधार पर दूसरे लोग अपनी सोच का निर्माण कर सकते हैं।''

''मैं आपसे विवाद नहीं करना चाहता और आपसे विवाद में भला कौन जीत पायेगा? मगर सीधी बात यह है कि मैं भी जानता हूं और मेरे मित्र कछुआरामजी भी जानते हैं कि खरगोश तेज दौड़ता है ओर ये आहिस्ता-आहिस्ता चलते हैं। इसलिए दूसरी स्थिति जो आपने बतायी, वह पैदा नहीं होगी। रही तीसरी, उस पर किसी का वश नहीं। कौन कह सकता है कि खरगोश सो जायेगा या बीच ही में रुक जायेगा, गतिहीन हो जायेगा?

''तो महाशय फिर वह होगा जो अक्ल कहती है।''

''माना, किन्तु आप क्या कोई और स्थिति नहीं निकाल सकते, जिससे गति के संबंध में हमारा अनुमान सही हो तो भी कछुआ जीत पाये?''

''आप पूरी बात भी तो सुनें। मैंने क्या सारी उम्र भाड़ झोंकी है कि कछुए के जीतने की शर्तें केवल बुद्धि के बल से न निकाल सकूं? आप सुनें तो सही।''

कछुए की जान में जान आ गयी, बोला, ''महाशय जी, बताइये तो यह कैसे हो?''

मुल्लाजी बोले, ''हां हजरत अलफलसेफुलहिन्दी, अवश्य बताइये।''

अलफलसेफुलहिन्दी ने कहा, ''अनुमान करता हूं, आपके बार-बार कहने पर लेकिन आपने कल शाम जब मुझसे इस बात की चर्चा की थी तो उसी समय से मैं इस सोच में पड़ गया था। एक स्थिति बुद्धि के द्वारा कछुए के जीतने को निकली है।''

''वह क्या है महाशय जी?'' मुल्लाजी ने बड़ी आतुरता से पूछा, ''हां, वह बताइए, उसी का तो इंतजार है।''

''देखिए, उसकी शर्तें भी समझ लीजिए। शर्तें ये हैं—दौड़ की सही दिशा निश्चित हो, दौड़ का समय निश्चित हो, खरगोश और कछुआ दोनों निश्चित दिशा में अपनी-अपनी गति से रुके बिना निरंतर गतिशील रहें और सबसे महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि दौड़ शुरू होते समय खरगोश से कछुआ कुछ-न-कुछ, अनुमान कीजिए, गज भर आगे हो।''

''मुल्लाजी, मैं ऐसी बातों की परिचर्चा कर रहा हूं जो तर्क और बुद्धि की परिधि में आती हैं। आपके मित्र संभवतः इसे न समझें, आप समझ लेंगे तो फिर इन्हें समझाते रहिएगा।''

''कहिए।''

''अनुमान की दो वस्तुएं हैं—'अ' और 'ब'। दोनों एक सीधी रेखा पर स्थित हैं। एक ओ है, दूसरा पीछे। उनके बीच दूरी है 'द'। दोनों वस्तुएं गतिशील हैं और अपनी-अपनी गति से निरंतर चल रही हैं—सीधी रेखा के साथ-साथ, एक दिशा में। अब गति, समय और दूरी से संबंधित कुछ निश्चित नियमों को भी दिमाग में रखिये। देखिये, कोई जीव कितनी ही तीव्रता से गतिशील हो, उसे दूरी को तय करने में

कुछ-न-कुछ समय लगता है। चाहे दूरी कम हो या ज्यादा, किन्तु निश्चित स्थान हो। दूसरा निश्चित नियम यह है कि गतिशील जीव चाहे उसकी गति कितनी ही हो, कितनी ही तेज, कितनी ही धीमी, यदि वह अपनी गति किसी एक निश्चित स्थान की तरफ निरंतर गतिशील रखता है तो कुछ-न-कुछ दूरी जरूरी तय कर लेता है, चाहे ये कुछ-न-कुछ दूरी कितनी हो, बहुत या कम। सृष्टि के संपूर्ण गतिशील प्राणवान जीवों के संबंध में यही नियम क्रियाशील मिलेगा। इसलिए मैंने खरगोश और कछुए का नाम लेकर चर्चा नहीं की।''

मुल्लाजी बोले, ''समझे कछुराम, दौड़ करना मगर यह न भूलना कि दौड़ शुरू होते समय खरगोश से गज भर, बल्कि दो गज आगे रहना, फिर वह तुमसे आगे नहीं निकल सकेगा। हमारे अलफलसेफुलहिन्दी तो सच हैं, बड़ी दूर की कौड़ी जाये। हमारी-तुम्हारी समझ भला यहां तक कैसे पहुंचती?''

''मुल्लाजी, इनके मुंह से कहलवा दो कि हम जीत गये।''

''देखो कछुराम,'' अलफलसेफुलहिन्दी ने कहा, ''हमें इस प्रकार भ्रम में घिरे रहना अच्छा नहीं लगता। इससे कहलवा दो, उससे कहलवा दो, हम क्या जानें कि तुम जीतोगे या वह जीतेगा? हमारी योजना के अनुसार दौड़ होगी तो 'ब' जीतेगा। मुल्लाजी तुम्हें 'ब' बना दें तो उनकी खुशी और तुम्हारा साहस। शर्तें पूरी होंगी तो 'ब' जीतेगा और अगर शर्तें पूरी नहीं होंगी तो सारी कथा ही खत्म, खरगोश भी समाप्त, कछुआ भी खत्म। फिर जो होगा, उसका नक्शा ही दूसरा होगा। जी जनाब, अब हम तो चलें।''

मुल्लाजी बोले, ''अच्छा, जाइए, फिर मिलेंगे। बहुत-बहुत शुक्रिया। आपने आज बड़ा काम कर दिया और भाई कछुराम, देखो, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हमारे अलफलसेफुलहिन्दी ने क्या दिया है! कमाल कर दिया, कमाल। सवाल को ऐसा चारों तरफ से घेरा कि कहीं से निकलने नहीं दिया।''

''अब हम भी चलें। तुम अपने दिल की उलझन दूर कर दो। खरगोश तुम्हारे सामने आये, बुलाये, तुम्हें चुनौती दे तो दौड़ निश्चित कर लेना और वह आगे रहने वाली शर्त याद रहे। जीतोगे, जरूर जीतोगे? अच्छा हम भी चलें।''

''मुल्लाजी, धन्यवाद। हृदय से तुम्हारा कृतज्ञ हूं। तुमने मेरे जी का कांटा निकाल दिया, बहुत आभार मानता हूं तुम्हारा। अच्छा, जाओ।''

इस कछुए ने पुरानी बात छोड़ दी, इतिहास भुला दिया। भविष्य की किसी दौड़ की तैयारी आरंभ कर दी। मानसिक तैयारी अधिक। मौलाना सवेरे-सवेरे न पहुंचे तो उसे उनकी बड़ी कमी अनुभव होती। वह अपनी विजय की आशा में तैयारी में लीन था और किसी दिन खरगोश आये, व्यंग्य करे या छेड़े तो उसकी चुनौती को स्वीकार कर लिया जाये।

वह चंचल, तीव्र गति वाला खरगोश कुछ दिन बाद आ ही गया। तट पर आदमियों के आने-जाने से सहम गया था। उधर से बचकर ही निकलता था। कुछ दूरी पर जो चने का खेत था, वह उससे आगे नहीं बढ़ता था। वहीं बैठ चने का साग मजे लेकर खाया और लौट गया। कछुए साहब पानी से निकलकर किनारे पर बैठ इंतजार करते-करते थक जाते और इंतजार से ज्यादा थकाने वाला कौन होता है! एक-एक मिनट साल भर का हो जाता है। हां, इंतजार करते-करते थक जाते तो पानी में डुबकी लगा लेते और आन ही आन में अपने सारे क्षेत्र में घूमते। दिल में सोचते कि पानी में ही कुछ-कुछ दौड़ने का अभ्यास करता हूं ताकि दौड़ के दिन धरती पर जल्दी से हांफ न जाऊं। हांफने से बहुत घबराते थे। दम फूला तो यह समझे कि चले। पानी में उनका दम कभी नहीं फूलता था।

कछुए को किनारे पर बैठा देखा तो खरगोश निकट आया और बोला, ''बुढ़ऊ, ये पोपला मुंह कैसे चल रहा है! किस सोच में हो? आओ, कोई खेल खेलें! यह कहकर दौड़कर दोनों कानों को खड़ा किया फिर नीचे कर लिया।

सात बार यही कियातो कछुए को ऐसा लगा कि व्यर्थ में ये हमारी हंसी उड़ा रहा है, बोला, ''बड़े चंचल हो गये हो राजकुमार! बड़ों का सम्मान भी कोई चीज है, तमीज कब आयेगी?''

''क्या तैरने में कुछ पानी पेट में भर गया है बुढ़ऊ, जो ऐसी आढ़ी-तिरछी बातें कर रहे हो?''

''आढ़ी-तिरछी बातें तो तुम करते हो राजकुमार, मैं तो अपने नियमानुसार रहता हूं। पुरखों से तमीज सीखी है, तमीज सीखने को कहता हूं। इन दिनों चारों ओर हरे-हरे खेत हैं, इसी मारे कुछ-कुछ फूल गये हो, अपने को भूल गये हो।''

''फूले हुए होगे तुम, गुब्बारा तो बने हुए हो और गुब्बारा तो होता है हलका—तुम तो पत्थर का गुब्बारा हो। किले का किला पीठ पर उठाये फिरते हो और जरा चाल तो देखिए इस चपटे गुब्बारे की!''

''ये तुम मेरी चाल? चाल के संबंध में हमेशा कुछ-न-कुछ कहते रहते हो। कैसी है मेरी? मेरी चाल है, जैसी छिछोरी की चाल होती है। इधर उचके, उधर उचके, फांदे, कहीं छुपके, कान नचाते, कुल्हे मटकाये, वाह-वाह, बड़ी चाल है हमारे राजकुमार की!''

''अच्छा, तो आओ, देख लो, किसकी चाल अच्छी है। अच्छे से मतलब यह कि किसकी चाल तेज है। दौड़ोगे हमसे? खड़े-खड़े ही हांफ जाओगे?''

''अच्छा, तो राजकुमार। दौड़ की ठन गयी। दौड़ेंगे, जरूर दौड़ेंगे। कल सवेरे आ जाना।''

''जरूर आऊंगा। तुम अकेले न या वह काली दाढ़ी वाला या वह लकड़ी वाला और वह चमकीली आंखों वाला वो तुम्हारे सब नये दोस्त होंगे? मैं इन आदमियों से बचता हूं, ये सब बड़े धोखेबाज होते हैं, निर्दयी, कठोर हृदय और अत्याचारी।''

''हे राम! तुम्हारे लिए तो बस, चने का साग अच्छा और सब बुरे। अच्छा, खैर, तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। सवेरे आना,

यहां कोई और नहीं होगा। तुम होगे, मैं होऊंगा और ईश्वर होगा, बस। हो ही जाये दौड़, अब लाज ईश्वर के साथ है।''

''तुम तो ऐसे कह रहे हो, जैसे ईश्वर तुम्हारा अपना रिश्तेदार है कि बस, तुम्हारी ही लाज उसके हाथ है और वह हमारा कोई नहीं! बस, यह बताओ कि दौड़ की बात पक्की हो गयी?''

''भई, यहां से बबूल की जड़ से उस पुलिया के उधर वाले नुक्कड़ तक सीध में यहां से वहां तक, पर एक शर्त है राजकुमार!''

''वह क्या?''

''यह यों कि तुम जवान हो, हम बूढ़े हैं। हमने सुन रखा है कि दौड़ में ऐसा होता है। स्वीकार करते हो?''

''स्वीकार है मुझे।''

''तुम दो गज नहीं, तीन गज आगे से चल सकते हो,'' यह कहकर खरगोश उछलता-कूदता गायब हो गया।

दूसरे दिन सवेरे खरगोश चने के खेत में ऊपर-ऊपर ही नरम-नरम कोंपलें खाकर सीधे कछुए के ठिकाने पर पहुंचा।

कछुआ पहले से बबूल के पास की पुलिया की तरफ कोई ढाई गज की दूरी पर प्रतीक्षा में बैठा था या खड़ा, यह तो ठीक-ठीक से नहीं कहा जा सकता, किन्तु बहरहाल वहां मौजूद था।

कछुआ बोला, ''मैं तो अपनी जगह पर पहुंच गया हूं, तुम बबूल के पेड़ के पास जाओ तो दौड़ शुरू हो।''

''शुरू कब होगी?''

''जब मैं कहूं कि चलो।''

खरगोश बड़ी अधीरता से कछुए के 'चलो' कहने की प्रतीक्षा करने लगा। अंततः कछुए ने कह ही दिया, ''चलो।''

खरगोश ने दो छलांग मारी और आगे। कछुए साहब ने भी गंभीरतापूर्वक चलना आरंभ कर दिया, मगर चलने और ठहरे रहने में बहुत कम अंत था। केवल यह कि यह बदहवास थे और हांफ रहे थे। मिनटों में खरगोश नुक्कड़ के निकट पहुंच गया और ये हांफते-कांपते अपनी बुद्धि को सांत्वना देते हुए इस वास्तविकता को अपनी आंखों से देखते रहे। इस बात की परछाई भी इनके मस्तिष्क पर नहीं पड़ी कि वह जो सोच रहे हैं, वह केवल भ्रम है, इससे अधिक कुछ नहीं। अचानक क्या हुआ कि खरगोश ने अपनी दिशा बदल ली।

कछुआ अपने पोपले मुंह से चिल्लाया, ''ये नहीं तय हुआ है। सीधे रास्ते पर चलो, नहीं तो में खड़ा हो जाता हूं। सारी दौड़ रह जायेगी।''

मुंह में दांत नहीं, पेट में सांस नहीं, वैसे भी उन्होंने जो कहा वह किसी की समझ में न आता। मगर उस वक्त तो खरगोश कुछ भी सुन नहीं सकता था। उसने तो मंसूर मियां के शिकारी रामपुरी कुत्ते को पुलिया पर आते देख लिया था। उसका सारा जीवन मिटकर उसके सामने आ गया था। जान बचाने के लिए कभी इधर भागता, कभी उधर भागता। एक पेड़ की जड़ में छिपा। कुत्ता जमीन सूंघते हुए वहां भी पहुंचा। खरगोश ने एक बड़ी छलांग मारी, जैसे हिरण छलांग लगाये, लेकिन कुत्ते ने उसको हवा में ही लपक लिया और कुछ इस तरह उछला कि वह हवा में कोई गज-भर ऊंचा उछल गया। कुत्ते ने फिर हवा में ही इसे लपक लिया और जमीन पर छोड़ दिया। खरगोश जो अधमरा हो चुका था, एक बार फिर दौड़ने की कोशिश की, इस बार कुत्ते ने बिलकुल झंझोड़ डाला।

यह सारी घटना कछुए ने अपनी आंखों से देखी और कुछ ऐसी स्थिति में पड़ गया, जैसे वह न कुछ देख सकता था, न सोच सकता था। विश्वास नहीं होता था कि केवल खरगोश अपनी जान से गया है। न जाने कितनी देर वहीं सहमे पड़े रहे आंख खोलते तो दुनिया सुनसान और नीरव दीखती, आंखें बंद करते तो सामने वही कुत्ता और वही खरगोश दिखायी देता और लाल खून की पिचकारी, जो खरगोश की गर्दन से निकली थी। घबराकर आंखें खोल लेते। न जाने कितनी देर तक यही स्थिति रही। न जाने क्या-क्या विचार आ रहे थे। ''बड़ी हत्या हुई। यह मुझे क्या हुआ उस रंगीले-छबीले जवान को दौड़ पर उकसाया? धिक्कार है हमारे बुढ़ापे पर और हमारे शताब्दियों के अनुभव पर कि हम उसके चुभते कंटीले शब्दों से विफर गये और अपने हृदय में इतने दिन क्रोध को जी भरकर पाला, अपनी आत्मा को गंदा किया। मूर्ख आदमियों से सांठ-गांठ की। अपनी बुद्धि को बच्चों की-सी बातों में बहकने, भटकने दिया। क्या था, वह जवानी की तरंगों में इतराता था, हमारा क्या लेता था? क्या बिगाड़ता था हमारा? हम तो शताब्दियां बिता चुके, वह तो अभी कल का बच्चा था, वह जान से गया और हम जीवित हैं। इससे अच्छा था कि हमें भी कुछ हो जाता और हम यह सब सोचने को जीवित न रहते। इतनी आयु पाकर भी हम इतना न समझ सके कि हर जीव का अपना अलग-अलग संसार होता है। हमारा संसार अलग, खरगोश का संसार अलग। एक के लिए जो महत्त्व की चीज है, दूसरे के लिए उसको कोई मूल्य नहीं। हम जमीन पर भाग नहीं सकते तो वह मरने वाला बच्चा भी तो पानी में तैर नहीं सकता था। किसी को कुछ मिला है, किसी को कुछ और किसी का कुछ कर्तव्य है और किसी का कुछ और कर्तव्य। सब अपने-अपने कर्तव्य पूरा करें, यही ईश्वर की मर्जी होती है। उसकी मर्जी को जानना, पहचानना, उसके सामने गर्दन झुकाना ही जीवन का अंश है। यही धर्म, यही सत्य है, यही आनंद है, यही मोक्ष है। ये गर्दन झुकाना (उपासना) हरेक का अपने-अपने रंग में होता है। अपनी पहचान को दूसरों की पहचान से नापना, अपने गर्दन झुकाने के ढंग को दूसरों के झुकाव से टकाराना दूसरे के कर्तव्य को अपने कर्तव्य से तौलना—यह सब भूल है। बड़ी भूल और हमसे यही भूल हुई।''

जैसे-तैसे दिन कटते पर कछुए के मन में बोझ किसी तरह हलका नहीं हुआ, सोचता है, मुल्लाजी भी इधर नहीं आये, उनसे अपने हृदय की व्यथा कहता। कहते हैं कहने-सुनने से दुख कुछ हलका हो जाता है, पर यह दुख दूर तो कभी नहीं होगा। ❑

कविताएं

हुकुमनामा

❑ जावेद अख्तर

किसी का हुक्म है सारी हवाएं,
हमेशा चलने से पहले बताएं,
कि इनकी सम्त क्या है।
हवाओं को बताना ये भी होगा,
चलेंगी जब तो क्या रफ्तार होगी,
कि आंधी की इजाजत अब नहीं है।
हमारी रेत की सब ये फसीलें,
ये कागज के महल जो बन रहे हैं,
हिफाजत इनकी करनी है जरूरी।
और आंधी है पुरानी इनकी दुश्मन,
ये सभी जानते हैं।
किसी का हुक्म है दरिया की लहरें,
जरा ये सरकशी कम कर लें अपनी,
हद में ठहरें।
उभरना, फिर बिखरना और
बिखरकर फिर उभरना,
गलत है उनका ये हंगामा करना।
ये सब है सिर्फ वहशत की अलामत,
बगावत की अलामत।
बगावत तो नहीं बर्दाश्त होगी,
ये वहशत तो नहीं बर्दाश्त होगी।
अगर लहरों को है दरिया में रहना,
तो उनको होगा अब चुपचाप बहना।
किसी का हुक्म है इस गुलिस्तां में,
बस अब एक रंग के ही फूल होंगे,
कुछ अफसर होंगे जो ये तय करेंगे,
गुलिस्तां किस तरह बनना है
कल का।
यकीनन फूल यकरंगी तो होंगे,
मगर ये रंग होगा कितना गहरा
कितना हल्का,
ये अफसर तय करेंगे।
किसी को कोई ये कैसे बताए,
गुलिस्तां में कहीं भी
फूल यकरंगी नहीं होते।
कभी हो ही नहीं सकते।
कि हर एक रंग में छुपकर
बहुत से रंग रहते हैं,
जिन्होंने बाग यकरंगी
बनाना चाहे थे,
उनको जरा देखो।
कि जब यकरंग में सौ रंग
जाहिर हो गये हैं तो,
वो अब कितने परेशां हैं,
वो कितने तंग रहते हैं।
किसी को ये कोई कैसे बताए,
हवाएं और लहरें कब
किसी का हुक्म सुनती हैं।
हवाएं, हाकिमों की मुट्ठियों में,
हथकड़ी में,
कैदखानों में नहीं रुकती।
ये लहरें रोकी जाती हैं,
तो दरिया कितना भी हो
परसुकून, बेताब होता है
और इस बेताबी का अगला कदम,
सैलाब होता है।
किसी को कोई ये कैसे बताए। ❑

चार कौए उर्फ चार हौए

❑ भवानी प्रसाद मिश्र

बहुत नहीं थे सिर्फ चार कौए थे काले
उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़ने वाले
उनके ढंग से उड़ें, रुकें, खायें और गायें
वे जिसको त्योहार कहें सब उसे मनायें।

कभी-कभी जादू हो जाता है दुनिया में
दुनिया भर के गुण दिखते हैं औगुनिया में
ये औगुनिए चार बड़े सरताज हो गये
इनके नौकर चील, गरुड़ और बाज हो गये।

हंस मोर चातक गौरैयें किस गिनती में
हाथ बांधकर खड़े हो गये सब विनती में
हुक्म हुआ, चातक पंछी रट नहीं लगायें
पिऊ-पिऊ को छोड़ें, कौए-कौए गायें।

बीस तरह के काम दे दिये गौरैयों को
खाना-पीना मौज उड़ाना छुटभैयों को

कौओं की ऐसी बन आयी पांचों घी में
बड़े-बड़े मनसूबे आये उनके जी में
उड़ने तक के नियम बदल कर ऐसे ढाले
उड़ने वाले सिर्फ रह गये बैठे ठाले।

आगे क्या कुछ हुआ सुनाना बहुत कठिन है
यह दिन कवि का नहीं चार कौओं का दिन है

उत्सुकता जग जाये तो मेरे घर आ जाना
लंबा किस्सा थोड़े में किस तरह सुनाना।

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा प्रिन्टेक, इंडियन प्रेस कॉलोनी, मलदहिया, वाराणसी से मुद्रित। प्रधान संपादक : बिमल कुमार / संपादक : अशोक मोती।